सहजानंद शास्त्रमाला

पौरूष विहार प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन

भाग

आध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर श्री मनोहर जी वर्णी
सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्र माला
१८५-ए, रणजीतपुरी, सदर-मेरठ

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सहजानंद पौरुष विहार प्रवचन

प्रवक्ता :
आध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सहजानन्द स्वाध्याय मण्डल
ग्रन्थ क्रमांक......................

प्रकाशक—
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियों को
भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मन्दिर की ओर से अर्धमूल्य में

द्वितीय संस्करण
११००

सन् १९८८

मूल्य
७ रु०

सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन

(रचयिता—अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी)

प्रियतम ! क्यों परद्रव्य को विषय किया, क्यों न अंत: भेद विज्ञान किया, क्यों इस कुरूपता की ओर आकर्षण हो रहा है। यह सब तो कर्मलीला है। कर्मलीला कर्म में हो रही है। कर्मलीला कर्म में होने दो। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। पौद्गलिक कर्मलीला के निमित्त अज्ञानरूप नहीं परिणमूंगा। मैं तो ज्ञानघन हूं। कर्मलीला का निमित्त पाकर अज्ञानरूप परिणमन होता, इस रीति को ज्ञानोपासना के बल से अब न होने दूंगा। मैं तो सहज आनन्दमय हूं। इस सहज ज्ञानानन्दस्वरूप में ज्ञान ज्ञानरूप ही वर्तता हुआ सहज आनन्द को अनुभवूंगा। अहा, चिरकाल से बिछुड़ा हुआ प्रियतम यही तो हूं मैं सर्वविशुद्ध चैतन्य प्रभु ···ॐ····ॐ—ॐ···शुद्धं चिदस्मि।

परद्रव्य में उपयोग का जोड़ना ही भलाई का उपाय—हम आप सबकी भलाई कैसे हो, किसमें हो, इस दृष्टि से सुनना चाहिए और उसके अनुरूप यथाशक्ति धार्मिक प्रवृत्ति करना चाहिए। भलाई क्या चीज है ? आत्मा को आकुलता न रहे, यही एक भलाई है। चाहे धन जुड़ जाय, यश हो जाय, कुछ से भी कुछ लौकिक सम्पदा आ जाय, एक अनाकुलता भर न हो, आकुलता चित्त में रहती हो तो वह सब बेकार है। एक निराकुलता हो, शान्ति हो यही जीव का परमहित है। तो इस सम्बन्ध में थोड़ा सोचना होगा कि आकुलता आती किस तरह है और निराकुलता होती किस तरह है ? आकुलता कैसे आती है ? सब लोग जानते हैं कि आकुलता होती है तो चित्त में किसी न किसी परद्रव्य के बारे में कल्पनायें उठती रहती हैं तब आकुलतायें होती हैं। किसी भी परद्रव्य में कुछ भी कल्पना न आये और आकुलता व्यक्त हो जाय, ऐसा नहीं होता। जो भी जीव दु:खी है, जिसको भी आकुलता है उसकी आकुलता का आधार यही है कि इन्द्रिय और मन के विषयों में चित्त लगा रहता है। यदि निराकुल होना है तो उपयोग को इन बाहरी विषयों से हटावो, फिर अपने आपके स्वरूप में लगिए, यही एक निराकुलता का उपाय है। इस ही को यों समझिये कि हमारा उपयोग चलता रहता है, सोचता रहता है, जानता रहता है, निरन्तर कुछ न कुछ परिणति करता रहता है, इसी को कह लीजिए विहार। यह विहार करता रहता है, जैसे साधु संतों का विहार होता है और ढंग का, उपयोग का विहार और ढंग का होता है, इसका विहार चलता रहता है। तो हम अपने उपयोग का विहार कहां करें, बस यही विवेक करना है। इन्द्रिय और विषयों के इन बाहरी स्थानों में अपने उपयोग का विचरण कराता है वहां तो होती है आकुलता, और जहां आकुलतारहित, कष्टरहित, विकल्परहित अपना जो स्वरूप है उस स्वरूप में उपयोग का विहार बनाया जाय तो वहां निर्विकल्प दशा होती है। अब जरा अपने बारे में खूब विचार करें, बहुत मनन करने के बाद यहां यह विवेक जग रहा है तो एक बार कह उठेगा अपने आत्मा से कि हे प्रियतम ! क्यों अब तक परद्रव्यों को विषय किया ? सारे संकट, सारे झंझट किसी परपदार्थ में चित्त लगाने से होते हैं। वे सारे परद्रव्य विषय कुछ भी मुझ में न आयें, ऐसा किसी विवेकी को ही चिन्तन होता है।

वर्तमान संगम की उपेक्षा कर विजय पाने की श्लाघनीयता—अच्छा देखो अब तक कि जिन्दगी मे जो भी जिन्दगी गुजरी वह परद्रव्यों का विषय करती हुई, परद्रव्यों का ख्याल करती हुई, मोह राग करते हुए ही

तो गुजरी। आज मन कहता है कि मैं न उनमें राग करता तो क्या बिगड़ता था ? राग कर करके ही तो दुःखी हुए। जो भी गुजरे हैं उनके बारे में आज बताओगे—दादा न रहे, बाबा न रहे, पिता नहीं रहे, स्त्री नहीं रही, जो जो भी गुजरे और जिन जिनका इतना तीव्र राग बसा हो जिस राग के कारण उस समय भी हम विह्वल रहा करते हों, आज विवेक कहता है कि इतना समय व्यर्थ ही गुजार दिया। यदि उन परपदार्थों में राग न करते तो उससे क्या बिगाड़ था ? सुधार था। तो गई गुजरी बात में तो कुछ विवेक हो जाता है, मगर वर्तमान में जो प्रसंग होता है उसमें विवेक करना बहुत कठिन है जिसने वर्तमान संगमपर विजय प्राप्त कर लिया विजय तो उसकी है। जो गुजर गया उस पर भी अज्ञानी विजय नहीं कर सकता। पर साधारणतया जो विवेकी है वह गई गुजरी बातों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मगर वर्तमान में जो मिला है धन वैभव लोग, उनमें भेदविज्ञान कर सके कोई कि ये सब जुदे हैं, मैं आत्मा जुदा हूं, ज्ञानघन हूं, मेरा किसी भी परद्रव्य से कुछ सम्बन्ध नहीं। ऐसा विवेक इस समय कोई कर सके तो उसने गई बिगरी बातों को भी और भविष्य को भी सुधार लिया और वर्तमान को भी सुधार लिया। इस कर्तव्य में जिसकी दृष्टि जाती है और यथासंभव वृत्ति जगती है धार्मिक नाम तो उसका है अन्यथा गप्पवाद है। धार्मिक नाम तो लगा लिया, मगर धार्मिकता का सम्बन्ध कषायों में प्रवृत्त हो गया। प्रवृत्ति होनी चाहिए ऐसी कि अपने आपके भीतर भेद विज्ञानामृत रहे। मैं सबसे निराला हूं, जिसका यहां कोई पहिचानने वाला नहीं, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र एक चैतन्यपदार्थ हूं। मुझ में जो कषायें जगती हैं ये सब कर्मलीला हैं, कर्मविपाक से निष्पन्न हुई हैं, उनमें कुछ बवन्डर होता है तब मैं दुःखी होता हूं। मैं एक ज्ञानमात्र हूं, ऐसा भीतर में उपयोग का बिहार कराये तो यह है अपने को तारने का एक सच्चा पुरुषार्थ। कितने ही भव गुजर गए, उन भवों में क्या-क्या मिला और उनमें कितना-कितना मोह किया होगा, राग किया होगा और आज कुछ नहीं है ना पूर्वभव की बात तो कोई सोच सकता है कि पूर्वभव में न किया जाता मोह तो क्या बिगड़ता था मेरा ? अच्छा ही होता, आजके ये बुरे दिन तो न देखने होते, कभीके निर्वाण पा लेते और इसी प्रकार इस जीवन में भी जो अब तक बातें गुजरी हैं उनमें भी यह भेदविज्ञान करने का साहस बना लेता, न करता अमुक प्रेम, न करता अमुक मोह, गया गुजरा, कुछ मिला नहीं, सब गया, सब बिछुड़ा, न मोह करता मैं तो अच्छा ही तो होता। तो भाई गुई गुजरी बातोंमें जैसे सोच सकते हो। अन्तः विवेकमें, ऐसे ही वर्तमानमें मिले हुए में सोच लो, पार हो जावोगे संसारसे।

आत्मस्वरूपमें स्वत्व की प्रतीतिमें भलाई का उपाय—सच्चा धार्मिक वह है जो अपनेको केवल निरख रहा है। अपना साथी नहीं कोई, अपना संगाती नहीं कोई, अपना मित्र नहीं कोई, अपना बैरी नहीं कोई, अपना किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं, अकेला ही हूं, अकेला ही जिम्मेदार हूं, अपने आपकी कृतियों का ऐसा जो निर्णय रखता है सच्ची धार्मिकता वह पा सकता है। तो यह ज्ञानी विवेकी सोचता है कि हे प्रियतम ! प्यारोंमें सबसे अधिक प्यारा कौन, प्रियतम कौन ? यह आत्मा ! हे प्रियतम्, क्यों परद्रव्योंको विषय किया ? अपने ही अन्दर में भेदविज्ञान क्यों न किया। देखो बड़ी दुर्लभता से यह मनुष्यजन्म मिला है। इस मनुष्यजन्म में अपने आपमें यदि भेदविज्ञानकी कला नहीं पाते तो पाया हुआ यह मनुष्यजन्म सब बेकार। यहां लगें वहां लगे बाह्यमें ही, साथ ही उन्हें सब कुछ माने तो इससे कुछ नहीं मिलता ! अपने आपको देखें, आत्माका ज्ञान प्राप्त करें और उसमें रमण करें तथा उसमें ही आस्था रखें।

कुरूप से आस्था हटा आत्मा के सुभग स्वरूप सुरूप में शरण्यता की दृष्टिका लाभ—मेरा शरण मेरे अन्तर का पौरुष है। मेरा शरण बाहर में कोई दूसरा नहीं। मेरी जिम्मेदारी केवल इस मुझ द्रव्यपर है, मेरा जिम्मेदार जगत में कोई दूसरा नहीं है। तो आत्मा का जो सही स्वरूप है एक चकचकायमान जगा हुआ ज्ञान-ज्योति प्रतिभास मात्र यह तो है आत्मा का स्वरूप और मनुष्य हूं, पशु हूं, पक्षी हूं, अमुक हूं, अमुक जातिका हूं, कुछ

भी कहे जावो, मैं यह हूं, मैं वह हूं, यह है कुरूप। जिसपर लोग आकर्षित होते हैं, आत्मा का कुरूप है यह। यहां तो कोई कुरूपपर आकर्षित नहीं होता तो फिर हे आत्मन् ? तुम इस कुरूपपर क्यों आकर्षित हो ? यह मैल है, मलीमसता है, इससे हटो और अपने आपका जो सुभग रूप है, केवल जाननहार है, सब जीवों में एक समान है, एक बर्ताव, एक स्वरूप, दृष्टि यह रख कर एक अपने आपमें या सबमें समा जाना यह है सुन्दररूप आत्माका, उससे प्रीति करें और यह जो कुरूप है, यह जो आकर्षण है इससे प्रीति मत करें। क्योंकि यह सब मलिनता है। जैसे दर्पणका स्वरूप क्या, केवल प्रतिभास और सामने लाल पीली चीज रख दी और वहां लाल पीला प्रतिबिम्ब हो गया तो वह दर्पणका कुरूप है। इसी प्रकार मेरेमें कर्मका उदय आये, कर्म की झांकी हो, यहां मलीमसंता जगे, यह है मेरा कुरूप। कुरूप में आस्था मत बनायें, कुरूप में आदर बुद्धि मत करें। एक अपने स्वरूप में आस्था करें।

भेदविज्ञान कर स्वमें स्वके आग्रह का कार्य—देखें जरा अन्दर और भेदविज्ञान करें, कर्म की लीला कर्म में है, मेरा काम मेरेमें है। जैसे दर्पण की निजी बात दर्पण में है और जो प्रतिबिम्ब हो रहा है उसकी बात उसमें है। यों ही यहां दो का झगड़ा है। पहिले बांधे हुए कर्मोंका उद्वेग और आत्मा में ज्ञानवृत्ति। इन दो में परस्पर बंध है। ऐसा जब दो का आमना-सामना होता है और उसे अपनाते हैं हम, तो द्वन्द्व होता है और नहीं अपनाते तो द्वन्द्व नहीं रहता। तो कर्मलीला कर्म में होने दो और अपने ज्ञान का व्यापार अपने में होने दो, अपने को देखो कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं, आखिर रहना तो कुछ है नहीं। क्या मकान, धन वैभव यश प्रतिष्ठा आदिक ये सदा रहेंगे ? अरे ये कुछ नहीं रहनेके। जब कुछ रहना ही नहीं है तो जिस समय यहां रह रहे उस समय जरा मोह तो न करें, पार हो जायेंगे। लोग विवश होकर तो परको छोड़ते हैं और विवेक करके नहीं छोड़ते, इतना अन्तर है। छोड़ना सबको पड़ता है तो फिर विवश होकर क्यों छोड़ें, ज्ञान द्वारा छोड़ें और फिर सम्पर्क न बनावें, भिन्न मानें। आत्मा का ज्ञान होगा, विकास होगा और अन्तर्मग्न होते चले जायेंगे। यह बात बना सके तो जीवन सफल समझो और यह बात यदि न कर सके तो जीवन बेकार समझिये। क्या बात है ? यहां दो बातें देखना है। मैं हूं ज्ञानमात्र और इसपर प्रतिबिम्ब आता है कर्मलीला का। तो ऐसा साहस जगावें कि जब मैं ज्ञानमात्र हूं तो मैं ज्ञानरूप ही परिणमूंगा, मैं कर्मलीला रूप से अपने उपयोग को न परिणमाऊंगा। यहां भेदविज्ञान करें, यहां हठ करें, अगर हठकी आदत बनी है कि हमें हठ करना है तो व्यर्थके झंझटों का हठ छोड़ दें और यहां के स्वरूप और कर्माक्रमण इनके भीतर जुदे मानने की हठ बनावें, मैं तो ज्ञानरूप ही परिणमूंगा, मैं कर्मलीलारूप न परिणमूंगा। भीतर मे एक ज्ञान चेतना बनायें।

ज्ञानमात्र जानकर ज्ञानरूप परिणमने के पौरुष में लाभ—अब तक क्या बात आयी कि मैं ज्ञानमात्र हूं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हूं, मैं ज्ञान हूं। ज्ञानमें आग लग सकती है क्या ? आकाश में आग लग सकती है क्या ? ज्ञान कभी पानी से भीग जायगा क्या ? आकाश कभी पानी से भीग जायगा क्या ? ज्ञान में किसी परपदार्थ का प्रवेश हो सकता क्या ? आकाश कभी किसी चीज से गंदा बन सकता क्या ? ऐसे ही ज्ञानमात्र यह मैं आत्मा किसी बाहरी चीज के सम्पर्क से गंदा बन सकता हूं क्या ? बाहर की ओर से मुझपर कोई उपद्रव नहीं। मैं अपने ज्ञान में परवस्तुवों के बारे में कल्पनायें बनाता हूं और उससे अपने को दुःखी करता हूं। जब कोई चीज मेरे साथ नहीं रहती तो अभी से कल्पनायें छोड़ दें कि ये मेरे कुछ हैं ? किसी बाहरी पदार्थ से कुछ बिगाड़ तो नही, मगर अज्ञान ऐसा छाया है कि उनको छोड़ना नहीं चाहते और उनके पीछे निरन्तर दुःखी रहते। अपने आपको सोचो कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मैं ज्ञानरूप ही परिणमूंगा। क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, कषाय आदि इन अज्ञानोंरूप मैं न परिणमूंगा।

अपने को ज्ञानघन निरखकर विशुद्ध ज्ञानरूप परिणमने के आग्रह में सन्मार्ग का लाभ—मैं ज्ञानघन हूं याने मैं सर्वत्र अपने आत्मा में ज्ञान से भरपूर हूं। ऐसा नहीं कि मैं यों ही कोई उद्दण्ड चीज होऊं। मुझ

मैं ज्ञानघन है, मैं ठोस हूं ज्ञान से। ज्ञान ही ज्ञान मुझमें ठोस भरा है। जो पहले बांधे हुए कर्म हैं उनका उदय आता है और उनकी छाया पड़ती है, उन कर्मों का प्रतिफलन होता है वह सब अज्ञान है। जैसे दर्पण में अगर सामनेकी चीज प्रतिबिम्बित होती है तो वह प्रतिबिम्ब दर्पण नहीं, किन्तु वह प्रतिबिम्ब दर्पण का मैल है, दर्पण से अलग चीज है। जब दर्पण के स्वरूप को देखते हैं तब यह बात विदित होती है। मैं ज्ञानघन हूं, कर्मके उदय से जो कषाय जगी है उन रूप मैं न परिणमूंगा। उन रूप मैं न परिणमूंगा। उन रूप मैं हूं ही नहीं। मैं तो ऐसा ज्ञानसे भरपूर हूं कि वहां मुझमें प्रवेश नहीं होता आया अब तक, कुछ नहीं समझते थे इस कारण से, हमको बोध न था इस कारण से। ये कर्म अनादि से उदयमें आये, इनका प्रतिबिम्ब पड़ा, मैं अज्ञानरूप परिणमता रहा और यही पद्धति हमारी अनादि से चली आयी, लेकिन अब अपने को ज्ञान ज्ञानमात्र ही समझकर इस ज्ञान की उपासना के बलसे अनादि से चलती आयी हुई रीति को मिटायें। ऐसा अपने आपमें विहार करके ऐसा पौरुष जगायें, ऐसा साहस बनायें, अब तक मैं सावधान न था। अनादि से यह रीति मुझपर चली आयी थी। कर्म के उदय में घबड़ा गए, बाहरी पदार्थों को शरण मान लिया और मैं व्याकुल होता रहा, लेकिन अब इस रीति को मैं न होने दूंगा। मूल में यह विचार रखेंगे कि मैं ज्ञानघन हूं, ज्ञानसे भरपूर हूं। ऐसा ज्ञानघन रूप ही मैं रहूंगा, अन्य रूप नहीं। देखिये मोटा उदाहरण भी साथ परखते जाइये कि जब बाहर की चीज मेरे साथ नहीं रहती कि तो मैं क्यों इतना आसक्त होऊं और क्यों अपने आपको बरबाद करूं? चीज तो मेरे साथ रहने की नहीं और मैं उसमें दिल फंसाकर दुःखी होता हूं। वह क्षण अगर पाना है कि मैं आत्मा अपने आत्मा में ही मग्न होऊं तो उसके लिए यह ज्ञान की पद्धति अपनानी होगी समाज का विषय समाज के साथ है, यहां समाज का सम्बन्ध नहीं है। यह केवल अपने-अपने आत्मा की बात है। मैं आत्मा कैसे कष्टोंसे छूटकर अपने आपमें शान्त होऊं, निराकुल होऊं, इस उद्देश्यको लेकर बात चल रही है।

अब और विचार करो कि मैं ज्ञान ज्ञान हूं, ज्ञान से भरपूर हूं। ज्ञान के अतिरिक्त मेरी ओर से किसी भी विकार की बात नहीं आती। अतः मैं सहज आनन्दस्वरूप हूं, यह निर्णय बनावें। जहां रागद्वेष किया, प्रीति किया वहां आकुलता बढ़ी। जब मैं ज्ञान ज्ञानमात्र ही हूं तो मैं अपने ज्ञानस्वरूप में ही क्यों न आस्था बनाऊं? क्यों न इसी में मग्न होऊं? मैं सहज आनन्दरूप हूं, क्योंकि मेरा स्वरूप सहज ज्ञानानन्द का है। तो मैं अपने को ज्ञान ज्ञान रूप ही प्रवर्तता रहूं, जाननहार ही रहा करूं और सहज आनन्दका भोक्ता रहूं। कोई मनुष्य सड़कपर से जाते हैं, सैंकड़ों मनुष्य मिलते हैं, उनको देखते हैं और उनसे कोई आकुलता नहीं होती। क्यों आकुलता नहीं होती? इसलिए कि न वहां राग है, न द्वेष है। दिख गए, जानने में आ गए, ये जा रहे, वे जा रहे, और आपके राग वाला कोई कुटुम्बी, मित्र आदि दिख जाय तो बस उसे आप देखकर बरबाद हो गए। जैसे घरके कुटुम्ब को, पुत्रको, मित्रको आप जानते हैं, मोह करते हैं कि यह मेरे लिए सर्वस्व है, वही एक बरबादी का बाहरी हेतु बनता रहता है, वास्तविक हेतु नहीं। तो जो बरबादी का हेतु बनता है वहां तो है लगाव और जो बरबादी से बचा सकने वाला है ऐसा कौन? देव, शास्त्र ओर गुरु। उनसे रहते हैं दूर, तो यह कितनी उल्टी बात चल रही है? देखो अपने आपको। अपना सर्वस्व, अपना शरण, अपना सार यही प्रियतम है, अपने आपमें भरपूर है, यहां दृष्टि दो और सर्व संकटों से मुक्त होवें।

परिस्थितिवश चेष्टा करने की स्थिति में भी सावधानी और सत्प्रतीति रखनेका संदेश—यदि अपने स्वरूप सर्वस्व में नहीं थम पाते, यहां नहीं लीन हो पाते और बाहरमें दृष्टि जाती, बाहर में कुछ काम करना पड़ता, तो इस प्रभुका प्रसाद मिले, इस ढंगसे बाहरके काम करें। अगर शरीरसे कोई चेष्टा करता हो तो इस निज जीवके लिए ही तो कुछ करेगा। भावना करें कि इन सब जीवोंको वह ज्ञान प्रकाश मिले कि इनके सारे संकल्प विकल्प संकट दूर हो जायें और वर्तमान में जो इनपर दुःख आये हैं भूख, प्यास, रोग आदिक के, ये भी इनके दूर हों

तो ये ऐसे पात्र हो जायें कि ये अपने अंतःप्रकाशमान प्रभुकी उपासना करके अपने जीवन के क्षण सफल करें। यह दृष्टि होनी चाहिए परोपकार की। मनसे विचार करें कि सर्व जीवोंका हित हो, सबका कल्याण हो, जीव ही तो है, हमारा स्वरूप ही तो है, उनमें क्यों भेद हो कि ये मेरे हैं, ये दूसरेके। अरे कर्मोदय है, कषायभाव जगा है तो वह तो एक प्रकारकी विडम्बना है, उनको क्यों मुख्यता दें ? उनमें जो सहज चैतन्य प्रभु है उसकी मुख्यता लायें। इस तरहसे सर्व जीवोंके प्रति अपना चिन्तन करें और जो वचनसे बोलना पड़े वही बात बोलें—आत्माकी बात, परमात्मा की बात, आत्मा के स्वरूप की बात, गुणके स्वभाव की बात, वह बात बोलें, जिससे बोलते समय हमारी बुद्धि में, हमारी परिणति में वह बात अधिक से अधिक बसे, इसकी आवश्यकता है। तो तन, मन, वचन की चेष्टा करें तो इस तरह। और चौथी चीज है धन, उसका सदुपयोग करें तो इस तरह करें कि जो वास्तविक है, आत्मविज्ञान है उसका प्रसार हो। उससे इस आत्मा में विज्ञान को पायें, ऐसे स्थानों में अपने द्रव्य का सदुपयोग करें और फिर बहुत ही जल्दी इन विकल्पों से भी हटकर अपने आत्मा के ज्ञानस्वरूप का मनन करें, फिर उपयोग का विहार करें।

निज प्रियतम के दर्शन की उत्सुकता—जब यह देखेगा अपने उस आनन्दधाम तेजमय निज परमात्मतत्त्व को तो कह उठेगा कि हे चिरकाल से बिछुड़े हुए अन्तःप्रभु, हे परमात्मतत्त्व, आज जान पाया कि यह ही तो तुम हो, अब तक तो नहीं समझ पाया था, तब ही तो संसार में रुलता चला आया। जो पर्याय पायी, जो अवस्था पायी, जो परिणति पायी उसमें ही रमा रहे कि 'यह मैं हूं' यह भली बात नहीं। उसमें न रमो, उससे हटो तो मिल जायगा अपने आपका अपनेमें बसा हुआ बिछुड़ा हुआ प्रियतम, चैतन्यमात्र। यही हूं मैं सर्व विशुद्ध, सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र। स्वीकार करें, बोलें—ॐ ॐ ॐ, अहा यही तो मैं हूं, अन्य मैं कुछ नहीं हूं, इसके लिए बड़ा बलिदान करना होगा कषायों का, मोहका, रागका। बीचमें विकल्प उठेंगे कि लड़के की ओर, मां की ओर, स्त्रीकी ओर, धन वैभवकी ओर, किन्तु बड़े साहसके साथ परसे उपयोगका कटाव करना पड़ेगा, मुझको ज्ञानानुभूति चाहिए, मुझको स्वानुभूति चाहिए, मुझे आनन्द का अनुभव चाहिए, यहीं उपयोग का उपयोग करने को मिलेगा। मिलेगा चिरकाल से बिछुड़ा हुआ मेरा प्रभु। उसमें लगना है, बाहर में नहीं लगना है। इसके लिए उदारता, त्याग, तृष्णा का रंग छोड़ना पड़ेगा, और अगर यह काम नहीं करते तो किसी दिन एकदम से छूट जायगा। थोड़ा तो विवेक बनायें, यों ही छूट जाय विवश होकर और मरते समय आर्तध्यान से मरें तो उससे नफा क्या है ? अपने आपको ऐसा उदात्त (उदार) बनायें कि परोपकार का, धर्मका कोई काम आये तो तुरन्त पायी हुई सम्पदा का त्याग कर दें। जहां इतना उदार चित्त बन जाय वहां पात्रता बनती है अपने आपके अन्दर बसे हुए प्रभुके दर्शन की। दोय काम नहिं होय सयाने, विषयभोग अरु मोक्ष में जाने॥ राग भी रहे, तृष्णा भी रहे, बाहरी पदार्थों को देखकर खुश भी होते रहें, उन्हें अपनाते भी रहें और मुक्ति का भी स्वाद लें, ऐसा हो नहीं सकता। एक ओर का मार्ग निश्चित करें। कौनसा मार्ग प्रिय है ? अगर मुक्ति का मार्ग प्रिय है तो पक्ष राग पार्टी, विरोध ये सब छोड़ने होंगे। इन सारे बंधनों को छोड़कर एव निज आत्मस्वरूप को अपनाना होगा तो इसका ज्ञानानुभव मिल सकेगा अन्यथा नहीं।

ज्ञानानुभव और उसकी एक सुगम साधना—ज्ञानानुभव सर्वोच्च वैभव है। धन वैभव तो आत्मा के भले की चीज नहीं। आत्मा के भले की चीज है निज ज्ञानप्रकाश, वहां अपना उपयोग विहार करायें और अपने आपमें तृप्त रहें, ऐसा करने को चित्त चाहता है क्या ? या ऐसी कहानी है कि जैसे कोई पुरुष मन्दिर में प्रभुमूर्ति के समक्ष तो बहुत रुचि रक्खे, जिसे रोज बोलते ही हैं—मुझे घरकी चाह नहीं, परिवार की चाह नहीं, प्रभु तुम ही तुम में मेरा चित्त रहे, प्रभु मेरे को मुक्ति मिले, निर्वाण मिले, रोज-रोज बोलते हैं। कोई बोले कि तुम रोज कहते हो—चलो हम तुमको लिवाने आये हैं, छोड़ दो घर, तो इतना सुनने के बाद क्या यह उमंग उठेगी कि जो रोज कहते थे उसको करने का आज मौका मिला, धन्य मेरा भाग्य, यह उमंग न उठेगी और ये कह उठेंगे कि तुम मेरा घर छुड़ाने

आये हो, वैरी हो। बड़ा रोष आयगा। क्या कह रहे ये मुझे यहां से हटायेंगे। तो जब इसका पूरा निर्णय आता कि मेरे जीवन का मुख्य लक्ष्य क्या है तब इसकी मुक्ति की बात कहना ठीक बनेगा। संसार प्रसंग सबका केवल झंझट है। जब तक यह झंझट है तब तक निजसमरस का स्वाद न आयगा। निश्चय रखें—मैं अकेला हूं। इस संसार में मैं अकेला ही रुलता चला आया, अकेला ही यहां रहता हूं, मेरा भविष्य क्या बनेगा, यह इस मुझ अकेलेपर ही निर्भर है। इसका कोई दूसरा साथी नहीं, इस लिए मेरे को अकेले को अपने इस अकेले का कल्याण करने के लिए सोचना पड़ेगा, मनन करना है। वह उपाय साक्षात् तो है आत्मविज्ञान और आत्मविज्ञान की प्रायोगिक सरल साधना है हमारी प्रभुभक्ति। देखो कोई ज्ञान ज्ञानकी बात बहुत बोलता रहे जिससे कि प्रभुसे भी श्रद्धा हट जाय। तो यह अपने लिए बहुत टोटेकी बात है। प्रभुभक्ति में चित्त उमड़ता है, और उनके उस विकास को, केवल ज्ञानस्वरूप को उस अनन्त आनन्द को जब हम निरखते हैं और साथ ही जब हमें अपनी वर्तमान दयनीय दशा का ख्याल आता है कि हूं तो मैं अन्त: ऐसा और हो क्या रहा ? जब इन दो बातों का संगम होता है उस समय होती है अनूठी भक्ति। तो आप समझिये—प्रभुभक्ति कितने उपयोग की चीज है, प्रभुभक्तिमें में यह ही विशेषता है। प्रभु मुझे तारो, मुझे उठा लो, ऐसे भावों की विशेषता नहीं है प्रभु में। आप कोई नवाब साहब हैं क्या जो प्रभु अपने आनन्दधाम को छोड़कर आपको तारने आयें ? प्रभु के स्वरूप का स्मरण करके खुद तिरेंगे, खुद ऊंचे उठेंगे, क्योंकि उन्होंने यह अपना उपयोग विशुद्ध बनाया। तो प्रभुभक्ति में उनके गुणों का स्मरण और साथ ही अपने आपके स्वरूप का स्मरण जिससे कि यह नाता छुट जाय प्रभु से कि जैसा तेरा स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है और साथ ही जब वर्तमान दयनीय दशापर ध्यान आता है तो उस समय वे अश्रु बह जाते हैं। वे अश्रु क्या हैं ? हर्ष और विषाद का मेल है। केवल हर्ष के अश्रु नहीं, केवल विषाद के अश्रु नहीं, किन्तु प्रभुभक्ति में अश्रुपात होता है। उसमें आनन्द की मात्रा अधिक है और साथ में लगी हुई है अपनी वर्तमान दशा को सोचकर विषाद की बात। यों आनन्द की मात्रा और विषाद की मात्रा का जब एक जगह टकराव होता है उस समय इसका निसर्गत: प्रीति से आंखों में आंसू झलक जाते हैं और समझ लो यह है सगुन के लक्षण कि हां तुम पार हो जावोगे। अपने उपयोग का विहार करायें अपने आपके स्वरूप में और इसके लिए साधना बनायें भगवान की भक्ति, स्वाध्याय, गुरुजनों की सेवा भक्ति। देखो भाई विनय होगी, किसीको अपने से बड़ा मानेंगे, किसी का भान रहेगा तो आत्मा की इस नम्रता के कारण यहां गुण प्रकट होंगे, और जहां मैं ही बड़ा हूं और कौन बड़ा है, अन्य कोई कुछ भी नहीं है और महान ऋषि संतों में दोष ही दोष देखेंगे, ऐसी दृष्टि जब बन जायगी तो समझो कि कल्याण का दिवाला निकल जायगा, कल्याण होना बड़ा मुश्किल हो जायगा। मेरा कल्याण हो। नम्र बनने की प्रकृति बनायें। तो प्रभुभक्ति, स्वाध्याय, सत्संग, नम्र बनने की प्रकृति दूसरों के गुण देखना, तप, संयम, व्रत में रहना चाहिए।

व्रत तप व्यवहार धर्ममें गुजर कर निश्चय धर्म की साधना में प्रगति का अनुरोध—देखो आज यह समस्या उठ खड़ी हुई कि व्रत, तप, संयम करना बेकार, एक सम्यक्त्व उत्पन्न करें तब व्रत करें। देखो बात तो ठीक है, सम्यक्त्व होनेपर ही व्रत तप मोक्ष आदिक के काम आ सकते हैं, लेकिन ऐसा एक निर्णय बनाकर चलें तो सम्यक्त्व हो या न हो, क्या बात है, कुछ नियम नहीं, और व्रत, तप, संयम से घृणा करके छोड़ बैठें तो आप समझिये कि क्या दशा होगी ? एक तुलना करो, दो पुरुष अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, उनमें से एक पुरुष तो मंद कषाय करता है, व्रत तप उपवास करता है, तीर्थ की परम्परा चलाता है, आगे की संतान भी उसमें आये ऐसी अपनी प्रवृत्ति रखता है और है अज्ञानी, एक तो ऐसा पुरुष और एक ऐसा पुरुष है कि है तो अज्ञानी मगर व्रत, तप, संयम व्यर्थ हैं, ये अपने आप होंगे, ज्ञान जगेगा तो हो जायेंगे, सम्यक्त्व पहले करें, सम्यक्त्व हुआ नहीं, अज्ञानी है, व्रत, तप से दूर है, पाप को छोड़ता नहीं, मंदकषाय करता नही तो देखो इन दो प्रकार के पुरुषों में लाभ किसको है ? जिसकी कषायें

मंद हैं, पापों से दूर रहता है और है अज्ञानी तो वह कम से कम सद्गति का पात्र तो है, अगला भव तो उसे अच्छा मिलेगा। वहां हो जायगा सम्यक्त्व, वहां हो जायगा धर्म का प्रसंग। और एक यह जो सम्यक्त्व भी नहीं पैदा कर पा रहा, अज्ञानी भी बना है, और पाप भी छोड़ता नहीं, इस बहाने कि पापको छोड़ने से क्या फायदा ? ज्ञान पहले जगना चाहिए फिर पाप छोड़ें तो उसका क्या हाल होगा ? इस कारण से सम्यक्त्व जगा कि नहीं जगा, इस बातको इस प्रसंग में गौण रखकर व्रत तप संयम में शक्तिपूर्वक रहना चाहिए और उस दशा में सम्यक्त्व के विकास को उत्पन्न करने का, ज्ञान के जगाने का उद्यम बराबर करते रहना चाहिए। इस तरह से जगत में तीर्थ प्रवृत्ति रहेगी। यह बड़ा है, यह व्रती है, तपस्वी है, साधु संत है, हमें भी आखिर यही करना होगा। देखो एक ख्याल तो आ जाता है कि हमें सर्व परिग्रहों का त्याग करके हमको अपने अन्तः मग्न होना चाहिए, उसके लिए व्यवहार बाधक नहीं, किन्तु व्यवहार में लगे होनेपर भी अन्तर में आत्मा की ज्ञान की उपासना इसमें लगें, क्योंकि इसमें लगे बिना मुक्ति नहीं है। एक मोटी बात समझो—व्यवहार हेय है, यह सभी कहते हैं, लेकिन जो व्यवहारमें लगा है उसे बताया है कि तू व्यवहार में ही मत रह और निश्चय ज्ञान को उत्पन्न कर, और जो ज्ञान से भी अलग है, व्यवहार से भी अलग है उसके लिए यह शिक्षा नहीं दी गई कि व्यवहार हेय है। व्यवहार में लगे हुए को शिक्षा दी है कि तू व्यवहार में आसक्त मत हो किन्तु अपने भीतर के ज्ञानविकास की चाह कर, इस ज्ञानमय प्रभु की उपासना कर और ज्ञान का अनुभव कर। तू व्यवहार व्यवहार में ही मत रह, किन्तु ज्ञानके अनुभव का उद्यम कर। तब ही तो अधिक फटकार मुनिजनों ने इन शास्त्रों में मुनिजनों को दी कि तू व्यवहार में मत रह। व्यवहार में रहने वाले को शिक्षा दी है यह कि तू व्यवहार व्यवहार में मत प्रलोभन कर, अपने भीतर में ज्ञान का विकास कर। कर्तव्य यह है कि जो परम्परा है उस व्यवहार में चलें ताकि दूसरे लोग भी उस सिलसिले में आकर कल्याण का लाभ ले सकें और अपने ज्ञान की आराधना करें। भजो अपने आपको कि मैं ज्ञानमय हूं, सहजानन्दमय हूं, इसकी उपासना करो और पाप छोड़ने के व्यवहार में रहते हुए अपने ज्ञान की उपासना करें, यह ही है अपने आत्मा के उत्थान का एक महान पौरुष।

॥ सहजानन्द विहार पौरुष प्रथम भाग समाप्त ॥

द्वितीय भाग

ज्ञानोद्भवन जैसे एक विलक्षण प्रकाश है, कर्माक्रमण वैसे ही एक विलक्षण अंधकार है। कर्म हमारे ज्ञान में नहीं आ पाता, किन्तु कर्माक्रमण के समय हुआ ज्ञान तिरस्काररूप अन्धकार इन्द्रिय व मन के उपयोग बिना भी अबुद्धिपूर्वक वेदनमें आता है। यहां तक तो अनिवारित निमित्त नैमित्तिक भावका आर्ट है। यह होता है तो होने दो। प्रियतम ! घबड़ाने की बात नहीं, तू तो ज्ञानमात्र है। वह आर्ट तो नैमित्तिक है, परभाव है। तू तो चल अपने ज्ञान के रास्ते से ही। मैं ज्ञानमात्र हूं। इस बदझलक की ओर मेरी कोई रुचि नहीं, इससे हटकर निज ज्ञानस्वरूप की शरण लेता हूं। यह है परमपिता, अहा, ॐ ॐ···ॐ····शुद्धं चिदस्मि।

कर्माक्रमण और ज्ञानोद्भवनका सान्निध्य—अपने बाहर अपना कहीं कुछ नहीं है। न बाहर सुख है, न बाहर दु:ख है, न बाहर संसरण है, न बाहर मुक्ति है। खुद में ही सब कुछ परखना होगा। मुझमें ही सुख है, मुझ में ही दु:ख है, मुझ में ही मुक्ति है, मुझ में ही संसार है। तो यह सब द्वैतभाव कैसे बना ? ये सब अनेक बातें कैसे बनीं ? उसके लिए यह सब विचार कर कि यहां दो चीज हैं—कर्म और जीव। कर्म क्या वस्तु होती है ? विशिष्ट कार्माणवर्गणायें हैं तो जीव जब कषायभाव करता है तो उस कषायभाव का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं और वे जीव के साथ बंधको प्राप्त हो जाती हैं और जब उनका उदय आता है तो कर्म में ही विस्फोट, कर्म में ही क्षोभ, कर्म में ही कुछ विकरालता उत्पन्न होती है, और वह झलकता है जीवमें, उपयोग में। तो उपयोग तिरस्कृत हो गया और उस समय यह उपयोग घबड़ाता है, अधीर होता है तो एक उपाय यही सूझता है कि बाहर में जो पञ्चेन्द्रिय विषय साधन हैं उनमें चित्त लगा दें। इस तरह से ये विडम्बनायें और विपत्तियां इस जीवपर चल रही हैं। तो यहां दो बातें सोचियेगा—कर्म का आक्रमण और अपने ज्ञान का उद्भवन। दो चीजें साथ चल रही हैं। कर्म का उदय यही आक्रामक कहलाता है, और कर्मका प्रतिफलन होना, कर्म का प्रतिबिम्ब होना यही कर्मका आक्रमण हुआ। समयसार में बताया है—कर्माक्रान्ततया यह जीव कर्मसे आक्रान्त है। तो कर्मका आक्रमण हो रहा है और मैं हूं ज्ञानस्वरूप, सो मेरे ज्ञान का जागरण, अनुभवन, ज्ञानकी वृत्ति, ज्ञानकी परिणति चलती है।

कर्माक्रमण और ज्ञानोद्भवन का संघर्ष—अब देखो आक्रमण और ज्ञानकी परिणति जब ये दोनों एक मिल जाते हैं तो संसारकी विडम्बना चलती है और कर्मका आक्रमण रहा कर्म में और ज्ञान का उद्भवन ज्ञान का व्यापार है मुझमें। कर्माक्रमण व ज्ञानोद्भवन—इनको भिन्न-भिन्न जब यह जीव जानता है तो उसका संसार से हटाव बनता है। यहां सोचना है ज्ञानका उद्भवन मायने मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं, तो मुझमें ज्ञानकी ज्योति जगती है, ज्ञान का प्रकाश बनता है तो वह एक विलक्षण प्रकाश है। मेरा वैभव असली यह है कि बाह्य वस्तुवों में चित्त जाने से इस वैभव का विघात होता है। मेरा वास्तविक वैभव है मेरे ज्ञानका प्रकाश चलना और मैं अपने ज्ञानमें इस ज्ञानस्वरूप को ही जानता रहूं, यह ही मैं हूं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हूं, ऐसा निश्चय कर अपने में मग्न होऊं तो इस जीव की विडम्बना खतम हो जाती है। तो ज्ञान का उद्भवन होना जैसे एक विलक्षण प्रकाश है वैसे ही कर्मका आक्रमण होना एक विलक्षण अंधकार है, अंधकार और प्रकाश इन दोनों का संघर्ष है। दोनों हैं बिल्कुल विलक्षण बात। जहां प्रकाश है वहां अंधेरा ठहर नहीं सकता, मगर यहां की उल्टी रीति है। दोनों ही बातें चलती हैं। जहां अपना ज्ञानप्रकाश प्रबल हो वहां कर्म का अंधकार ठहर नहीं सकता। जहां कर्म का अंधकार प्रबल हो वहां ज्ञान का प्रकाश दब जाया करता है। यहां ऐसी अन्तर्वृत्ति चल रही है। वहां समझना होगा कि कर्म की बात कर्म में है और मेरी बात मुझ में है, क्यों न अपने ही ज्ञान के प्रकाश का समर्थन करूं ? क्यों मैं कर्म के अंधकार को अपनाऊं ? बस ऐसी

बुद्धि जिनके प्रकट होती है उन्हें कहते हैं भेदविज्ञानी। और वह ही पुरुष आत्मा में बसे हुए अन्त:प्रभु का दर्शन करता है। दो द्वन्द्व चल रहे हैं।

कर्म की अज्ञातता व कर्मप्रतिफलन की वेद्यता—अच्छा अब इस समय एक समस्या आती है कि कर्म की बात तो हमें पता ही नहीं पड़ती, कर्म कहां लगे हैं, किस जगह बैठे हैं, कैसे खड़े हैं, कैसे आते हैं, इसका तो हमें पता ही नहीं पड़ रहा। कौन जानता है कर्मको ? ज्ञानावरणादिक ८ कर्म जीव में हैं, कहां पड़े हैं, कैसे हैं, ये किसी को दिखते हैं क्या ? किसी की जानकारी में आते हैं क्या ? तो कर्म का तो पता नहीं, हमारे ज्ञानमें कर्म आ ही नहीं पा रहे, मगर यह तो बताओ कि कर्म का ज्ञान तो नहीं हो पाता। मगर उपद्रव का ज्ञान तो हो जाता ना ? मेरे में जो उपद्रव होता, उपसर्ग होता, विकल्प होता, झंझट होता, जो भीतर में कुछ बात चलती है उसका तो पता होता कि नहीं ? हां उसका तो पता होता है मगर कर्म का पता नहीं होता मेरे को कि कर्म कितनी तरह के हैं, कैसे पड़े हैं, कैसे हैं, उसका पता नहीं पड़ता। तो अब यहां दो बातें समझना है। कर्म का तो हमें ज्ञान नहीं होता और उपद्रव का मेरे को ज्ञान हो जाता। अच्छा तो अब इसी विषय में सोचें कि जो उपद्रव मेरे को विदित होते हैं उपसर्ग, विकल्प, चिन्ता, मौज आदि जो कुछ भी विडम्बनायें मेरेपर चलती हैं और मेरे को ज्ञात होती हैं ये विडम्बनायें क्या मेरे आत्मा के स्वरूप में बसी हुई हैं ? नहीं बसी हैं। मेरे स्वरूप में तो वह बात है जो बात सदा रहा करे। मगर उपसर्ग, उपद्रव, विकल्प ये तो सदा नहीं रहते, ये तो बिछुड़े रहते हैं। अभी कुछ विकल्प, फिर बाद में कुछ विकल्प, तो ये मेरे स्वरूप में नहीं बसे हुए हैं और हो रहे मुझ में। जैसे दर्पण के आगे लाल पीला कागज रख दिया तो दर्पण में लाल पीला रंग आया तो यह बतलावो कि वह लाल पीला रंग प्रतिबिम्ब दर्पण के स्वरूप में है क्या ? दर्पण के स्वरूप में तो नहीं है। दर्पण के स्वरूप में होता तो यह लाल पीला प्रतिबिम्ब सदा रहता। जो दर्पण के स्वरूप की चीज है वह दर्पण में सदा रहती है, यहां से दर्पण हटाकर दूसरी जगह रख दिया तो उससे दर्पण की निजी चीज न दूर होगी। तो लाल पीला प्रतिबिम्ब दर्पण के स्वरूप में तो है नहीं और दर्पण में ही यह लाल पीला प्रतिबिम्ब है तो वहां निश्चय होगा कि यह किसी लाल पीले पदार्थ का सन्निधान पाकर दर्पण में लाल पीला हुआ। तो इसी प्रकार यह समझिये कि जो झंझट हैं रागद्वेष है, विषय कषाय हैं, मोहादिक भाव हैं ये मेरे स्वरूप नहीं। मेरा स्वरूप तो ज्ञाताद्रष्टा रहने का है, केवल ज्ञानदर्शन चैतन्यस्वरूप है, मेरे स्वरूपमें ये झंझट नहीं, यह विडम्बना नहीं, यह उपद्रव नहीं, विकल्प नहीं, फिर भी मेरे में ही विकल्प होता है, भींत में नहीं होता, अन्य जगह नहीं होता, शरीर में नहीं होता। मेरे में विकल्प होते, और मेरे स्वरूप में है नहीं, पैदा होते हैं, तो ये दो बातें ही इस बात को स्पष्ट करती हैं कि कर्म हमें ज्ञात नहीं, मगर कर्म का जो प्रतिफलन है, कर्म की जो छाया है, कर्म का जो प्रतिबिम्ब है, कर्मोदय का सन्निधान पाकर जो विकल्प का उस तरह का परिणमन है यह है कर्म का परिणाम। तो कर्म ज्ञात नहीं हो रहा, कर्म हमारे ज्ञान में नहीं आ रहा, मगर कर्म का प्रतिबिम्ब, कर्म का द्वन्द्व, कर्म का उपद्रव मेरे को ज्ञात होता है। अच्छा यह उपद्रव कितनी तरह का है ? कितने ढंग के उपसर्ग होते हैं मुझपर ? तो जब इस बात को बखानने चलेंगे तो ५० बताओ, १०० बताओ, हजार बताओ। बताते जावो, बहुत भेद हो जाते हैं, लेकिन उन भेदों में न जावो। मूल उपद्रव वह है कि मेरे ज्ञानस्वभाव का तिरस्कार हो गया, इसमें सब उपद्रव गर्भित हो जाते हैं। उपद्रवों के नाम कब तक लोगे ? उपद्रव एक है, मेरे ज्ञानस्वरूप का तिरोभाव, अब यह प्रकट नहीं हो पा रहा, अब तक विकास नहीं हो पा रहा, यह ही है इस ज्ञायकस्वरूप का तिरस्कार। तो ज्ञान का जो तिरस्कार है वही अंधकार है, सो वह अंधकार ज्ञान में आये।

कर्माक्रमणांधकार, ज्ञानोद्भवनप्रकाश, कर्मकी अज्ञानता, कर्मप्रतिफलन की वेद्यता, अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार का संक्षिप्त निर्देशन—अब तक कितनी बातें कहीं ? तीन जोड़े की बात कही। पहला

जोड़ा क्या बतलाया कि ज्ञान का प्रकट होना, जैसे एक विलक्षण प्रकाश है ऐसे ही कर्म का आक्रमण होना एक विलक्षण अंधकार है। दूसरे जोड़े में क्या सीखना कि कर्म इसके ज्ञान में तो नहीं आते, मगर कर्म का निमित्त पाकर जो उपद्रव चलता है वह उपद्रव मेरे ज्ञान में आता है। अब तीसरे जोड़े में क्या बतलाते हैं कि वे उपद्रव हजार नहीं, लाख नहीं, किन्तु एक है। वह उपद्रव क्या? ज्ञान का तिरस्कार होना, सो यह ज्ञानतिरस्कार दो ढंगों में चलता है, एक तो अव्यक्त रूप और एक प्रकट रूप। अव्यक्त रूप जो तिरस्कार है वह इन्द्रिय और मनके उपयोग बिना भी वह चलता रहता है और जो प्रकट तिरस्कार है उसके स्वरूप का जो प्रकट आघात है वह इन्द्रिय और मन इन विषयों में लगे तब प्रकट होता है। यहां यह बात समझना है कि निमित्तनैमित्तिक भाव की बात तो हुई यह कि ज्ञान तिरस्कार करे, और इन बाहरी उपचरित निमित्तों में हमने उपयोग जोड़ा तो हुआ व्यक्तविकार और इन उपचरित निमित्तों में काल्पनिक निमित्त में जो वास्तव में निमित्त नहीं है हम ही उनको पकड़ें तो निमित्त कहलाता है ऐसे इन बाहरी पदार्थों में उपयोग जोड़ा तो बन गया व्यक्तविकार। जिसमें हम बता सकते हैं कि इन पदार्थों पर क्रोध आया, इनमें मान किया, इनके प्रति माया की, इन पदार्थों में तृष्णा हुई, उसको बता सकते हैं, क्योंकि ये व्यक्तविकार हैं। अब यहां सोचना है कि उस बड़े द्वन्द्व में, उस बड़े फंद में कोई बाहरी पदार्थ विषयभूत मिले, बाहरी चीजें मिलें तो वे बाहरी पदार्थ हैं। द्वन्द्व तो यह चल रहा भीतर में ज्ञानस्वरूप को जब हम नहीं अपनाते और ज्ञान का तिरस्कार होता तो यह विकल्प चलता है और एक यह जो पहले बताया ना, ज्ञानतिरस्कार दो प्रकार से हुआ, एक तो मालूम नहीं पडे, इसकी बुद्धि में न आये और इसका घात हो रहा है बराबर, एक तो ऐसा ज्ञान तिरस्कार और एक हमारी बुद्धि में आता है, हम समझते हैं, हममें सुख दुःख का अनुभव होता है, एक होता है ऐसा ज्ञान तिरस्कार।

ज्ञानस्वरूप का आश्रय कर्माक्रमण को विफल करने का उपाय—जो अबुद्धिपूर्वक ज्ञान तिरस्कार है वह तो अनिवारित है। कर्म का उदय आया और वह कर्मत्व, जैसे दर्पण के सामने हाथ किया तो प्रतिबिम्ब होता ही है इसी प्रकार अव्यक्त अंधेरा, उसकी बात तो अनिवारित है। मगर हे निजनाथ, हे आत्मन्? तुम घबड़ाओ नहीं। अगर कर्म का उदय आता है और अपने उपयोग में विकार आता है तो घबड़ाओ मत। क्यों न घबड़ायें? यों न घबड़ाओ कि तुमने इसका रहस्य जाना कि कर्म का उदय आता है और उपयोग में उसकी छाया पड़ती है। जान गए तुम, अब घबड़ा तू यों नहीं कि तू जरा और अन्दर खिसक, थोड़ा और भीतर अपनी बुद्धि लगा और यहां देख, तू तो ज्ञानमात्र है। जैसे इस दर्पण के सामने लाल पीली चीज करने से अगर दर्पण में लाल पीला प्रतिबिम्ब होता है तो तू उस प्रतिबिम्ब को भी छोड़कर और भीतर दर्पण के निजी स्वरूप को देख। वहां प्रतिबिम्ब नहीं, किन्तु स्वच्छतामात्र है। ऐसे ही अगर यह कर्मछाया का अंधकार आया है तो घबड़ा नहीं। तू इससे और नीचे अन्दर में आकर अपने में तक कि तू ज्ञानमात्र है, केवल ज्ञान ज्ञान ही तेरा स्वरूप है। ज्ञान में दूसरी चीज नहीं हुआ करती। ज्ञान में ज्ञान ही रहता है। अगर दूसरी चीज ज्ञान में आ रही तो समझो कि वह पर-निमित्त पाकर आ रही है, मेरे स्वरूप में नहीं है। अपने स्वरूप को निर्दोष केवल अकेला ज्ञानमात्र देखें तो घबड़ाने की बात नहीं रहती। तू है ज्ञानमात्र केवल ज्ञान ज्ञानस्वरूप और ये रागद्वेष कषाय विकल्प ये हैं निमित्तनैमित्तिक भाव की कला से आये, पर तुम नैमित्तिक हो, तुम मेरे स्वरूप नहीं हो। मैं ज्ञानमात्र हूं—इस प्रकार तू तो अपने ज्ञानके रास्ते से चल। जैसे स्वप्न में कभी आपने देखा होगा कि हम लेटे हुए हैं और हमारे ऊपर से रेलगाड़ी निकल रही है तो वहां हम बड़ी हिम्मत करते हैं कि काफी रेलगाड़ी निकल गई अब बाकी निकल रही है, निकल जाने दो, अब जरासी और रही। वहां कैसा हिम्मत करके ज्योंका त्यों एक जगह पड़े रहते हैं। यहां स्वप्न का दृष्टांत क्यों दे रहे? इसलिए कि स्वप्न में रेलगाड़ी सचमुच तो नहीं है, वहां केवल ख्याल ही तो बन रहा और स्वप्न में इसके बड़े भारी उपद्रव का ख्याल बन रहा है और अपने आपमें अपने को पक्का दिल करने का भी ख्याल बन रहा है तो जगते में भी यही बात है। बाहरी

चीजों का प्रवेश तो नहीं हो रहा, यहां भी ख्याल ही ख्याल है कि ये मेरे मित्र हैं, ये मेरे पक्ष के हैं, ये मेरे विरोधी हैं, ये मेरे घर के हैं, ये मेरे अमुक हैं आदिक ये सब ख्याल ही ख्याल हैं, तो ये ख्याल ही ख्याल के भारी उपसर्ग आते हैं तो आने दो, निकल जाने दो। मैं तो अपने भीतर ज्ञानसमुद्र में, स्वरूप में ज्ञानघन हूं, पक्का हूं। यहां मेरे को साहस बन रहा है कि मैं ज्ञान ही ज्ञान हूं तब बाहरी पदार्थ कैसे ही होते हैं, उनसे मैं अपने में बाधा क्यों मानूं? निकल जाने दो, यह ख्याल होता है यह भी कर्म का उदय है, यह भी कर्म की बाधा है, और ये कर्म चलते ही रहते हैं निषेक रूप में तो निकलते हैं तो निकलने दो। मैं तो एक ज्ञानमात्र हूं, देखो भाई आत्मा का भला कर लो। सदा के लिए सर्व दुःखों से हटा लेने का काम कर लो। दुःख न हटें चाहे इस भव में, विकल्प न हटें चाहे इस भव में, मगर विकल्पों को सदा के लिए हटा देने की कुञ्जी तो प्राप्त कर लें इस भव में। वह कुञ्जी क्या है? ज्ञानानुभूति, सम्यग्दर्शन, स्वानुभव।

ज्ञानानुभूति के उपाय में अनुचिन्तन—ज्ञानानुभूति को कैसे पाया जाय? उसके पाने का बहुत सुगम स्वाधीन सरल उपाय है। थोड़ा करने के लिए हिम्मत जगाना है। वह उपाय यही है कि तुम अपने उपयोग को अपने आपकी ओर अभिमुख करते हुए, अपने आपकी कुछ परख करने की इच्छा रखते हुए अपने में अपने को यह विचारो कि मैं ज्ञानमात्र हूं इस देह के अन्दर भी रहकर। जैसे शीशी के अन्दर पारा है, शीशी से निराला है ऐसे हीं इस देह के अन्दर ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व निराला हूं, मैं ज्ञानमात्र हूं। अगर १०-५ मिनट अकेले एकान्त में बड़ी स्थिरता से बैठकर यह धुन बन जाय कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही ज्ञान मैं हूं, ज्ञान के सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूं, ज्ञानके सिवाय मेरा कुछ नहीं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। ज्ञान हूं, ज्ञान ज्ञान हूं, ज्ञानमात्र जानना, एक प्रतिभास, एक ज्ञानप्रकाश उसको दृष्टि में रखते हुए ऐसा अनुभव करें, ऐसे अपने में दर्शन करें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ही ज्ञान हूं, ज्ञान में यह ज्ञान ही ज्ञान रहे, अन्य कुछ ज्ञान में न आये, अगर ऐसा एक क्षण आप अपने अन्दर कर सकें तो अनन्तकाल के लिए पवित्र हो जाने की आप कुञ्जी पा चुके। अनन्त काल तक के लिए अनंत सुखी रहने की आप कुञ्जी पा चुके। यह काम करना है, इसके लिए बनावें सत्संग। जहां यह ही वार्ता हो, जहां यही आत्मानुभव की बात सुनने में आये, बस वही सर्वस्व अपने को जंचे, ऐसा ही अपना ज्ञानव्यापार रहे तो यह हैं अपना एक लाभदायक पौरुष।

स्वच्छ ज्ञानस्वरूप की दृष्टि में समृद्धि का अभ्युदय—भीतर तका जा रहा है, यहां दो बातें चल रही हैं—ज्ञान का उद्भवन और कर्म का आक्रमण। कर्म का उदय, कर्म के अनुभाग की छाया, कर्म के अनुभाग का प्रतिबिम्ब, प्रतिफलन तथा साथ ही है शाश्वत अन्तःप्रकाशमान ज्ञानस्वच्छता। जैसे कि दर्पण में दो चीजें चल रही हैं, उस लाल पीली चीज का प्रतिफलन और दर्पण में स्वयं की स्वच्छता का उद्भवन। देखो दर्पण में अगर ऐसी स्वच्छता की कला न हो तो प्रतिबिम्ब नहीं आ सकता। प्रतिबिम्ब है मलिन चीज, मगर जहां स्वच्छता है वहां ही प्रतिबिम्ब हो सकता है। इसी प्रकार रागद्वेषादिक विकार कर्मानुभाग मलिन चीज हैं, मगर आयगा कहां जहां ज्ञान-स्वरूप है, ज्ञान का उद्भवन है, तो ऐसा मेल, ऐसी संकरता चल रही है अपने भीतर में। मगर मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान का ही मुझमें काम होता है, ज्ञान का ही मैं काम करता हूं, ज्ञान के सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं चाहता। मैं तो ज्ञान की ओर दृष्टि देता हूं, इस दृढ़ झलक की ओर दृष्टि नहीं देते। देखो जहां रागद्वेष के विकल्प आये वह झलक कुरूप हैं, उसमें मैं क्यों लगूं, मैं उससे नीचे याने भीतर आकर, खिसककर भीतर प्रवेश करुं, मैं केवल अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करुं, मैं इस झलक की शरण न लूं, मैं इस विकल्प की ओर न खिचूं, किन्तु मैं एक विशुद्ध ज्ञानमात्र स्वरूप की ओर लगूं, ऐसा साहस, ऐसा प्रयोग जब चलता हैं और यही बात जब बन जाती है, ज्ञान में यही बात समा जाती

है उस समय इस जीव को ज्ञानानुभूति होती है और वहां तब जो आनन्द पाता है तब समझ में आता है—ओह ! यह है मेरा परमपिता । जैसे अनेक लोग कहते हैं कि परमपिता परमात्मा की शरण गहो, वही सुख दुःख देगा, वही भविष्य बनायेगा तो इसका अर्थ कहां लगावें ? अपने अन्दर अनादि अनन्त प्रकाशमान किन्तु मेरी गल्ती से जो बिछुड़ा हुआ था ऐसा मेरा सहज ज्ञानस्वरूप वह दृष्टि में आये तो यह है मेरा परमपिता । पिता कहते हैं रक्षक को । बस जहां सारे संकटों से छूट पाने की इसे तरकीब मिलती है तो प्रसन्न होता है, अहा, और उसकी ही धुन रहती है, उसी की ही सुध रहती है और स्वरूप समर्थक शब्दों में ॐ ॐ अनेक बार समर्थन करते हुए अपने अन्दर के ही उस ज्ञानप्रकाश की ओर रहता है । तब उसको अनुभव होता है कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, निरपेक्ष स्वभाव को तका जा रहा है, मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ॥

तृतीय भाग

अरे ! इतने समय परद्रव्य मेरे ध्यान में रहा, और ज्ञानमात्र यह मैं ध्यान में न रह पाया । अहो, मैंने अपना घात ही किया । यह मैं ज्ञानमात्र परमात्मतत्त्व और मुझपर लद रहा ऐसा परद्रव्याकार कि मैं क्षुब्ध रहा, यह मेरे लिये बड़ा कलङ्क रहा । जिस परवस्तु का आश्रय किया, उसका कोई लाभ भी न हुआ, लाभ हो तो वह भी मेरा अलाभ है । सारा लोक भी पर याने सारी सम्पदा भी निकट आवे, किन्तु यह मैं ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व मुझसे ओझल रहे तो सब बेकार रहा । मेरा यह अनादि से बिछुड़ा हुआ भगवान आत्मतत्त्व मेरे ज्ञान में रहो, अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिये । अनाकुल स्वरूप आनन्दनिधान विशुद्ध यह चित्प्रकाश, यही है मेरा सर्वस्व । अहा, ॐ·· ॐ··· ॐ · शुद्धं चिदस्मि ।

उपयोगपर विकल्पों के लदाव के गत अनन्त क्षणों का सविषाद स्मरण—अपने आपके अन्दर दृष्टि ले जायें और यह विचार करें कि मैंने अब तक क्या किया, भले ही उत्तर पचासों आयेंगे— मैने मकान किया, दूकान किया, लड़कों को पढ़ाया लिखाया आदिक, पर वे उत्तर अनेक नहीं, उन सबका उत्तर एक ही है । अब तक मैंने क्या किया ? अपने उपयोग में परद्रव्यों को विषय किया । मेरे ज्ञान में परपदार्थ लदे रहे । मैंने अपने उपयोग को कभी सूना नहीं कर पाया, इसपर कुछ न कुछ लदा ही रहा । घर, पुत्र, मित्र, स्त्री, धन दौलत, इज्जत, यश, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म का आक्रमण सभी कुछ मुझपर लदते ही चले आये, यह है मेरा अब तक का इतिहास । इतनी दयनीय स्थिति है । कभी इसने आराम नहीं लिया, विश्राम नहीं पाया । कुछ न कुछ परद्रव्यो का इसपर लदाव रहा । यह तो मैंने किया, और कर कुछ नहीं पाया । तो जो अन्तःसहज स्वरूप है केवल ज्ञानज्योतिर्मय अपने अस्तित्त्व के कारण अपने आपमें निसर्गतः जो कुछ भाव है, जो ज्ञानप्रकाश है वह मेरे ज्ञान में न आया । सीधी मोटी बात है कि मुझपर विकल्प लदे रहे, मुझपर बाह्य वस्तु विषय में बने रहें और अपने आपको शून्य ज्ञानमात्र अनुभव न कर सकें । तो ऐसा होने में किसकी बरबादी हुई ? मेरा ही घात हुआ, देखो कर्म के उदय विलक्षण हैं, कर्म उदय में आते रहते हैं, अनेक परिस्थितियां बनती रहती हैं फिर भी यदि यह ज्ञान जागृत हो कि मेरा तो स्वरूप ज्ञानमात्र है और उसपर जो लदाव है सो मूल में है कर्म के अनुभाग का और बाह्य में है किसी परद्रव्य को अपने ज्ञान में लादे रहने का ।

सम्यक्त्वसहित क्षणों का आभार—कुछ क्षण ऐसा पाया होता है कि मेरे ज्ञान में कोई भी परद्रव्य न लदे, कोई विषय न रहे, यह ज्ञानस्वरूप मेरा सूना रह जाय, यह मेरा उपयोग आसन प्योर रह जाय, केवल रह जाय तो वहां ज्ञान में ज्ञान का अनुभव होने से ऐसा विलक्षण अनुभव होता है कि बस उस ही आनन्द के अनुभव के साथ सम्यग्दर्शन प्रकट होता है । जैसे किसी जीव को सम्यक्त्व हुआ तो उसके अलौकिक आनन्द के अनुभव के साथ ही हुआ है । भले ही सम्यक्त्व होने के बाद महीनों का समय गुजर जाय और इस ज्ञान का अनुभव न पा सके केवल एक स्मरण ही रह जाय तो ऐसा हो सकता है कि सम्यक्त्व है और ज्ञानानुभव में नहीं चल रहे । मगर जिस क्षण सम्यक्त्व हुआ उस क्षण ज्ञानानुभव को लेकर ही हुआ । ज्ञानानुभव, सहज आनन्द का अनुभव, इसके बिना किसी को सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता । तब देखो कोई अगर ज्यादा ज्ञान नहीं रखता या ज्यादा ज्ञान के लिए पौरुष नहीं किया तो कुछ घबड़ाने की बात नहीं । सम्यक्त्व उत्पन्न करने के लिए केवल एक इतनी ही दृष्टि रखने की आवश्यकता है कि मैं केवल ज्ञान ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानसिवाय मैं कुछ नहीं हूं, ज्ञानसिवाय मेरा कुछ नहीं, ज्ञानसिवाय मैं कुछ करता नहीं, ज्ञान सिवाय मैं कुछ भोगता नहीं, ज्ञान ही ज्ञान मेरा सर्वस्व है, वह ही मेरा स्वरूप है । मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान हूं, ऐसा अपने आपके स्वरूप में लक्ष्य हो जाय तो ज्ञानानुभूति करने के लिए ज्ञान का स्वरूप दृष्टि में रहेगा—मैं ज्ञान ज्ञानमात्र

हूं, ज्ञानसिवाय अन्य कुछ नहीं हूं। यह है एक मूलदृष्टि, जिस दृष्टि को पशु ने पा लिया तो उसको सम्यक्त्व हुआ, पक्षी ने पा लिया तो उसको सम्यक्त्व हुआ, मेंढक, वानर, सूकर, नेवला, सांप आदिक संज्ञी जीवों ने इस दृष्टि को पाया तो उन्हें सम्यक्त्व का लाभ हुआ। अपने आपमें मनन करें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ज्ञान हूं: ज्ञानसिवाय कुछ नहीं।

अपने को ज्ञानमात्र अनुभव कर दुर्लभ मानवजीवन को सफल कर लेने का अनुरोध—भैया! यह बड़ा दुर्लभ जीवन है. बड़े दुर्लभ क्षण है। ये जीवन के जो क्षण मिले हुए हैं इनमें आत्महित की बात को प्रधान रखे। मुझे क्या करना? क्या प्रोग्राम, यों करना आदिक बातें ये इसके चित्त में नहीं रहती प्रधान, केवल एक आत्म-मनन, ज्ञानमात्र हूं—इस प्रकार का मनन बस यही पूरा कर देगा और जो जो कुछ बात समझते हैं, जो जो कुछ बात पानी है, जिस जिस बात में हमें गुजरना है वे सब हमको हस्तगत हो जाती है। मूल दृष्टि तो पायें। पुनः सोचिये क्या-क्या हुए मुझ में अब तक अनादि से। मेरे उपयोग में परद्रव्य ध्यान में रहे, बस इनमें ही हमारा समय गुजर गया। इसका प्रमाण क्या? यह ही प्रमाण है। वर्तमान प्रमाण है। अब भी तो ध्यान में बाह्य वस्तु ही रहा करते हैं। किसी का चित्त पुत्र में है, किसी का चित्त घर में है, किसी का चित्त किसी ओर लगा है। कषायों का आग्रह है। यह न रहे, मेरा विशुद्ध स्वरूप मेरे ध्यान में रहे इसमें ही हित है। पर यह बात न बन सकी तो इसमें मेरा ही घात है। मुझे अपने आपको ही बचाना है, अपने को सुरक्षित करना है, भविष्य की यात्रा का मुझे ध्यान रखना है। मेरी भविष्य यात्रा भली हो। यदि इन बाह्य वस्तुओं का ही ध्यान बनाये रहे तो ऐसे ही समय गुजर जायगा जैसा कि समय पहले गुजरता चला आया। अब दो का मुकाबला करो। मूल में तो यह हूं मैं ज्ञानमात्र अंतस्तत्व और इन पर लद रहा यह सारा परद्रव्याकार। जिसमें भी उपयोग फंसाया, जिसमें आसक्तिपूर्वक लगे बस उसका सारा प्रति-बिम्ब, फोटो, आकार, ख्याल, विकल्प, ध्यान, ये सब इसमें आये सो लद गए। यह तो मेरे पर कलंक है। लोग भ्रम-वश बाह्य वस्तुओं में बढ़-बढ़कर अपने में शूरता का अनुभव करते हैं, मगर यह है केवल मेर पर कलंक। प्रभु की मुद्रा देखो। अरहंत सिद्ध स्वरूप देखो, ज्ञान प्रकाश विशुद्ध हो, जिस पर राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, विकल्प, विचार कुछ भी नहीं लदे हैं और तभी इतना विकास है कि उनके आकांक्षा कुछ नहीं है, मगर तीन लोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो जाते है। मैं भी ऐसा ही स्वरूपतः हूं जैसे कि प्रभु। जैसा प्रभु ने किया वैसा मैं भी कर सकता हूं और जैसे प्रभु हुए वैसा मैं भी हो सकता हूं। इस जीवन में प्रोग्राम बनायें तो यह बनायें कि मुझे तो सिद्ध होना है, मुझे तो खालिस रहना है। जो मैं सहज हूं, परमार्थ हूं वही मात्र अकेला रह जाय, बस यह चाहिए। मुझे केवलज्ञान न चाहिए कि तीन लोक तीन काल को जानता रहे। मुझे अनन्त सुख न चाहिए। मुझे तो केवल खालिस जो मैं हूं सो ही मैं रह जाऊं, बस यह चाहिए। भले ही ऐसा कोई रह ले तो केवल ज्ञान होना ही पड़ता है, अनन्त सुख आता ही है मगर केवलज्ञान और अनन्तसुख पर दृष्टि रखकर कोई मनन करता है तो उसमें बाधा है, उसमें कुछ राग है, मोह का अंश है, कुछ आशा लगा रखी है। मैं केवलज्ञानी बनूँ, मैं अनन्त सुख वाला बनूँ और जहां निज सहजस्वरूपपर दृष्टि की, जैसा कि अपने अस्तित्व के कारण यह स्वयं है वैसा ही यह मैं मात्र अकेला रहूं, ऐसी जिसने दृष्टि की उसका रंग खतम हो गया और वह एक विशुद्ध भाव में आ गया।

परका आश्रय छोड़कर स्वका आश्रय करने में आत्महित—अच्छा अब जरा यह देखिये कि जिस-जिस वस्तु का हमने आश्रय किया, किया ही हैं, बचपन से भव भव में किया है, किसी स्थिति में किसी को अपना शरण माना, किसी स्थिति में कुछ को शरण माना, परद्रव्यों का आश्रय किया, उसमे कुछ लाभ हुआ क्या? जिन जिनकी गत वर्ष या कुछ वर्ष पहले धुन रही, जिन जिनमें राग बसा, जिन जिनका ध्यान किया उसका कोई लाभ है क्या आज? कोई लाभ भी हुआ क्या? आज तो देखते हैं वही अकेले पड़े हैं, अच्छा और लाभ भी हुआ किसी भी

परवस्तु का तो वह अलाभ है। देखो सारा लोक भी आये, सारी सम्पदा भी निकट हो और एक अपना ज्ञानान्दमय अन्त:स्वरूप अपने को ओझल रहे. उसे न न समझ सकूँ, उसकी दृष्टि न जगे तो सारा परिकर भी मेरे लिए बेकार है, ऐसी एक ज्ञान की धुन बनाने के लिए हमें निरन्तर की प्रेरणा चाहिए। वह सत्संग द्वारा होता, मनन द्वारा होता। स्वाध्याय तो इसी का नाम है कि जो वचन बोलें, जो वचन सुने जो वचन बांचें वे अपनेपर घटित होते रहें। अपने पर घटा घटाकर सुनें, अपने पर घटा-घटाकर बोलें, अपने आपसे उसका सम्बन्ध लगावें, यह बात मेरे में घटती है या नहीं, यह कमी मेरे में है या नहीं, ऐसी शक्ति मुझ में है या नहीं, यह स्वरूप मेरा है या नहीं, मैं स्वभाव में पूर्ण समृद्धशाली हूं या नहीं ? समृद्ध हूं। अपने आपके मात्र स्वरूप को निरखें तो कौनसी कमी है ? यहां कष्ट का नाम नहीं है। कष्ट आता है परसम्पर्क से, कष्ट आता है परसंग से। कर्मविपाक की सन्निधिसे प्रभावित है अस्वभाव भाव। देखो काम दो करना है ना ? अपने में होने वाली कषायों से तो हटना है और अपने वास्तविक स्वरूप में लगना है। काम दो करने के हैं—विभावों से हटना और स्वभाव में लगना। अब दोनों को हम बनाकर चलते हैं तो सफल होते हैं, प्रयोग बनायें विभावों से हम कैसे हटें ? तो जब तक विभावोंकी त्रुटि, विभावोंमें व स्वभावमें अन्तर न विदित हो तब तक हम विभावों से कैसे हटें ? विभाव नैमित्तिक हैं, विभाव औपाधिक हैं, विभाव परनिमित्त पाकर हुए हैं, विभाव मेरे स्वरूप में नहीं हैं, विभाव परभाव हैं—जब यह बात समझ में आती है तो विभाव से हटने की उमंग बनती है। तो ऐसा भी सोचो। समयसार में भले प्रकार एक परिच्छेद में अजीवाधिकार में बताया है ये सब जीव विभाव पुद्गलकर्म से निष्पन्न है। औपाधिक नैमित्तिक देखने का प्रयोजन यह है कि उससे हट जावें और स्वभाव देखने का प्रयोजन यह है कि स्वभाव में लग जावें।

आत्महित के अर्थ आत्मस्वरूप के मनन करने के उपाय की मुख्यता—विकल्पों से हटकर इन परभावों से हटकर एक अपने सहज स्वरूप का मनन करें, इसकी जानकारी में चलें, तो परमार्थ कृत्य सब सहज बन जाता है। जहां विभावों से हटने का काम बना वहां स्वभाव में लगने की बात सहज हो जाती है। यहां वस्तुस्वातंत्र्य का उपयोग करें। जो मैं हूं, जो स्वरूप है मेरा वह सहज है मुझ में। लो देखो छुट गया सब और मिला क्या ? अलौकिक आनन्द और न छोड़ा कुछ बाहर में, उपयोग में बाहरी बाहरी बातों को लादते रहे तो निजका आनन्द नहीं है। किसी का कोई जिम्मेदार नहीं, किसी का कोई रक्षक नहीं, भले ही व्यवहार में धर्मात्मा जन एक दूसरे को धर्म का प्रोत्साहन देते हैं, व्यवहार में शरण है, रक्षक है मगर वस्तुतः मैं यदि उस रूप न परिणमा, ज्ञान ज्ञानरूप न बना, मैं अपने आपको न संभालूं तो कोई दूसरा तार न देगा, रक्षा न करेगा। जब कभी घर में, कुटुम्ब में किसी इष्ट का वियोग हो जाता है तो वह कितना दुःख मानता है ? कोई गुजर गया जो बहुत प्रिय था, याद आता है और उस संयोग के लिए एक आर्तध्यान बनता है तो कितना दुःख होता है और उसी दुःख को दूर करने के लिए रिश्तेदार लोग आते हैं और समझाते हैं तो उन समझाने वालों में ९९ प्रतिशत तो ऐसे लोग हैं कि समझा तो सकते नहीं और बात ऐसी बोलते हैं कि जिससे उसका आर्तध्यान और बढ़े। जैसे कहेंगे कि बड़ा अच्छा था। सबकी रक्षा करता था। अपने लिए कुछ नहीं खाता पीता था, दूसरों की बड़ी संभाल रखता था। लो वह सुन सुनकर उस ओर और उपयोग लगाता है, दुःखी होता है। कोई समझा सकेगा क्या ? कदाचित् कोई ज्ञानी आ जाय और वह समझाये— देखो तुम अपने को संभालो, तुम केवल अपने में अकेले ही हो, और वह समझ जाय कि केवल अपना स्वरूप ही हमारा सर्वस्व है। ऐसा ही था, यही हूं, यही रहेगा। हमारा हमारे प्रदेशों से बाहर कुछ नहीं। हमारा हमारे गुणों से अतिरिक्त कुछ नहीं। मैं स्वभावमात्र हूं, इतना ही हूं। हमारा किसी से सम्बन्ध नहीं तो सम्यक् बोध के प्रताप से दुःख दूर हो जाता है। समझाया किसी ने वस्तुस्वरूप और वह इस ओर चित्त न दे और उसी इष्टवियोग की ओर धुन बनाये तो तो अभी रक्षा तो नहीं हुई। मगर हां उसकी वाणी एक निमित्त बनती है जबकि यह अपने उपादान को जाग्रत करता

है। दृष्टि अपने आपकी बनती है तो समझता है कि सच है, यह मैं अकेला ही तो हूं। देखो एक संतोष मिलता है।
जितना अपने को अकेला अनुभव करेंगे उतना ही धर्ममार्ग में आपका कदम बढ़ता रहेगा और जितना अन्य का सहाय
मानेंगे, अन्य को अपना कुछ सर्वस्व समझेंगे बस उतना ही द्वैत बुद्धि बढ़ेगी और उतनी ही आकुलता बढ़ेगी। एक ही
काम करना है बढ़े चलो अपने आपके एकत्व मे।

एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व की समझ से क्लेशक्षय—एकत्वभावना में बोल तो देते हैं—"आप अकेला
अवतरे, मरे अकेले होय। यों कबहूं इस जीव का साथी सगा न कोय।।" पर यह सब कथन व्यवहार का है क्योंकि
उसमें उतनी ही दृष्टि अभी डाली। जैसे किसी ने जो मर्म न जानता हो भावनावों का, उसको कह रहे हैं कि उसने
उतनी ही दृष्टि दी कि मैं अकेला जितना यह पिण्डोला है, जितनी ये सब पर्याय हैं, जितनी जो कुछ बात कही जा
रही, यह अकेला ही आता है, यह ही अकेला जाता है तो मरनेपर कोई दूसरा साथ नहीं जाता। तो इतना जान
लेने मात्र से काम न चलेगा। यह भी एक साधन है, यह भी उपयोगी बात है, लेकिन अपने में ऐसा एकत्व देखिये कि
यह ज्ञानमात्र, प्रतिभासमात्र सबसे निराला, कषाय से भी निराला, यह मैं केवल ज्ञानज्योतिमात्र हूं। वह अकेला है,
इसके कषाय भी नहीं, इसके रागद्वेष भी नहीं। इसके तो केवल ज्ञानज्योतिमात्र है। ऐसा अन्तर में एकत्व को निर-
खना है और उस प्रकार अपना अनुभव करना है। सभी लोग अपने बारे में कुछ न कुछ अनुभव करते ही तो रहते हैं।
मैं यह हूं, अमुक चन्द हूं, अमुक लाल हूं, अमुक विशेषण वाला हूं, व्यापारी हूं या अन्य अन्य कुछ हूं, कुछ न कुछ
सोचते तो रहते हैं। यह धर्मपद्धति कह रही है कि बजाय इन सबके सोचने के यह सोचें कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं। भार
रहित केवल ज्ञानप्रकाश प्रतिभासमात्र यह हूं मैं। देखो इतनी बात पकड़ सकें तो धर्म मिल गया, जीवन सफल हो
गया, मुक्तिमार्ग पा लिया। तो देखो जहां सैंकड़ों काम कर रहे हैं जरा एक इस अपने अलौकिक काम को भी करके
देख लो—बहुत ही एक अलौकिक और हित की बात है। मैं क्या हूं? मैं ज्ञानमात्र हूं, मग्न होते जाइये, अन्दर आते
जाइये। स्थितियां सतायें लेकिन उनका सताना अनुभव में न आये। कर्मोदय आये, कर्म के अनुभाग खिलें, झलकें,
अव्यक्त विकार बराबर चल रहा है, किन्तु जो अपने ज्ञानउपयोग को अपने ज्ञानस्वरूप में लगा रहे, किसी भी परद्रव्य
का आश्रय न करे उसको व्यक्त विकार होगा नहीं और व्यक्त विकार न होने के प्रताप से अव्यक्त विकार के हेतुभूत
कर्म सम्वर सहित निर्जीर्ण होंगे और उससे अव्यक्त विकार भी दूर हो जायेंगे।

चैतन्य महाप्रभु की उपासना की उमंग—भैया! बार बार दृष्टि दें अपने आपके अन्दर अपने परम
पिता, परम उपकारी अन्तःस्वरूप को निरखें—अहो यह है अनादि से बिछुड़ा हुआ मेरा परमात्मप्रभु। देखो बिछुड़ा
न था, शाश्वत स्वरूप है, लेकिन तब हम जान ही नहीं रहे तो बिछुड़े हुए ही कहलायेंगे। मेरे ज्ञान में न आ पाया
तो यह खुद होकर भी मेरे से बिछुड़ा हुआ ही कहलायगा। तो अपने इस बिछुड़े हुए प्रियतम ज्ञानस्वरूप को निरख-
कर बोलो—अनादि से बिछुड़ा हुआ यह मेरा प्रियतम चैतन्य महाप्रभु मेरी दृष्टि में आया तो अब यही मेरे ज्ञान में
रहे, बस यही वाञ्छा है, अन्य कुछ मुझे न चाहिए। देखो यह अपने धर्ममार्ग पर चलना भले ही नहीं बन पा रहा
हो और कुछ सोच सकते हैं ऐसा कि ऐसा बोलते हैं, पर ऐसा यह अभी क्यों नहीं हो जाते? और नहीं हो पाते।
आप भी अपने आपमें सोचिये, मैं भी ऐसा अपने आपमें मनन करता और ऐसा क्यों नहीं हो पाता, ऐसा ही विचित्र
कर्मोदय है, ऐसी ही अपनी वर्तमान योग्यता है कि नहीं हो पाते, लेकिन ऐसा होने के लिए मार्ग तो यही है ना कि
अपने स्वरूप का परिचय करें, उसकी धुन बनायें उसमें रत रहा करें, ऐसा सोचना तो होगा, ऐसा निर्णय करना तो
होगा और जहां यह ज्ञान प्रकट है वहां उसके अनुकूल कुछ न कुछ आचरण जरुर होगा, क्योंकि ज्ञान जगे और आस्रव
निवृत्ति न हो, ऐसा नहीं हो सकता। सम्पूर्ण आस्रवों से निवृत्ति प्राकपदवी में नहीं, पर हटना जरूर उसको होगा,
क्योंकि ज्ञान जगे सो आस्रव निवृत्ति होने लगती ही है। जहां यह जाना कि ये रागद्वेषादि मेरे स्वरूप नहीं वहां राग-

द्वेष में आसक्तिपूर्वक लग सकते क्या ? नहीं लग सकते। लगते हैं तो ज्ञान में। जिसके ज्ञान होता है कि पाप बुरे हैं, पापपरिणाम मेरे लिए कलंक है, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा ज्ञान जगनेपर कोई पाप में आसक्त हो सकता है क्या ? तो सम्यक्त्व का प्रभाव ही ऐसा है कि उसके व्यवहार चारित्र कुछ न कुछ अवश्य आ पड़ेगा।

व्यवहारसंयम से सुरक्षित ज्ञानी की ज्ञानोपासना में प्रगति—जैसे कोई योद्धा सुभट युद्ध में लड़ने जाता है, शत्रुपर विजय करता जाता है तो उसके पास दो प्रकार की बातें होती हैं—बचाव करने की चीज और प्रहार करने की चीज। बचाव करने की चीज को कहते हैं ढाल और प्रहार करने की चीज को कहते हैं तलवार। भले ही आजकल दूसरे दूसरे हथियार हैं, मगर ढाल के स्थान की बात भी कुछ है और तलवार के स्थान की बात भी कुछ है। ढाल से तो शत्रु के आक्रमण का बचाव किया और तलवार से प्रहार किया, ऐसे ही हम आप व्यवहार संयम, व्यवहार चारित्र, तप, व्रत, मंदकषाय आदिक रूप जो प्रवृत्तियां हैं वे विषय के आक्रमण को रोकने के लिए ढाल का काम देती हैं। दूसरा उपयोग तो बदल दिया, पर अभी इस विभाव का जो संस्कार है, जो कुछ है, जिसका अभी प्रहार न कर सके तो प्रहार करें ज्ञानउपासना द्वारा। अपने आपको ऐसा अनुभव में लें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ज्ञान ही हूं। उस ज्ञान की आराधना, उस ज्ञान की उपासना में आवो, यह प्रहार विभावों को मूल से उखाड़ेगा तो अपने को अनुभवना चाहिए कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानसिवाय मेरा कुछ नहीं, सर्व जीवों में घुलमिल जावो अर्थात् सबसे निराला होकर अपने स्वरूप में घुल जावो। ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी का अनुभव न करो कि कुछ है अन्य मेरा। जो मेरा है वह मेरे से छूट नहीं सकता। जो मेरा नहीं है वह मेरा साथ कभी निभा नहीं सकता है। सीधीसी बात है—मेरा क्या है ? ज्ञानस्वरूप, वह कभी मेरे से छूटता नहीं। ये लौकिक पदार्थ, ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायभाव ये मेरे नहीं, तो ये मेरे में मिल सकते नहीं। राग आये, द्वेष आये, अपने क्षण में आये, आगे समाप्त। बरबादी यह है कि आगे दूसरा राग आया, दूसरा द्वेष परिणमन आया, तो इसका जो तांता चल रहा है यह हैं दुःख का विषय। यह मुझे न चाहिए, मुझे तो अपना शाश्वत ज्ञानस्वरूप चाहिए, यह है अनाकुल स्वरूप, आनन्दनिधान, सबसे निराला चैतन्यस्वभाव, यह हूं मैं। ज्ञान में ऐसा कुछ मनन करते हुए, सोच विचार रखते हुए चलें, अन्दर में जहां इस ज्ञान में यह ज्ञानस्वरूप आया बस यह इसी को अंगीकार करने के लिए ही उमंग रखें। यह है मेरा चैतन्य महाप्रभु, चित्प्रकाश, मेरा सर्वस्व। इसमें संतोष मिलेगा, हम में सदाकाल रहेगा यह ज्ञानी निरखता है, ओर निरख-निरखकर तृप्त होता है, अनुभव करता है, बस यह ही शुद्ध चैतन्यस्वरूपमात्र मैं हूं, बस इस अनुभव में अलौकिक आनन्द का साथ है और परानुभव में पर का कोई अनुभव नहीं करता। मगर जिस ज्ञानविकल्प में परपदार्थ विषय हो रहा है वह ज्ञानविकल्प आकुलता के साथ रहता है, और जहां पर का आश्रय नहीं, केवल एक निज सर्वस्व स्वचिद्भाव ही ज्ञान में रहता है वह अनाकुलता को साथ लिए रहता है। अपने को अनुभव करें कि मैं हूं यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ॥

चतुर्थ भाग

अरे यहां अन्तर में तो कर्माक्रमण की झांकी है, बेसुधी है और बाहर परद्रव्य में मेरा ध्यान न जावे ऐसी चिन्ता करते हैं, बताओ, कैसे सफलता मिले ? परद्रव्य विषय में न आवे, इसके लिये तो मूल उपाय क्रमशः ये दो हैं—(१) कर्मविपाक परद्रव्य है, कर्मविपाक का प्रतिबिम्बन परभाव है, क्षोभपरिणमन नैमित्तिक है, इन तीनों से मेरा मतलब नहीं, ऐसा जानकर उससे अत्यंत उपेक्षित होकर ज्ञान को ज्ञानरूप से परिणमाने के लिये ही दृढ़प्रतिज्ञ होना। (२) मैं ज्ञानमात्र हूं, स्वच्छतामात्र हूं, ऐसे अनुप्रेक्षण से अपने उपयोग में ज्ञानस्वरूप को ही ग्रहण करना। यों स्वभावसिद्ध यह अन्तः चित्प्रकाश, यही है मेरा परम शरण, अहा, ॐ···ॐ···ॐ··· शुद्धं चिदस्मि।

अन्तर में अन्तस्तत्त्व के निरखने पर कर्माक्रमण की निवृत्ति की संभवता—जब कुछ थोड़ा समझ में यह आ जाता है कि उपयोग में जब परद्रव्य का विकल्प लद जाता है तब जीव को क्लेश होता है। तो इस समझ के बाद यह आकांक्षा होती है कि मुझ में किसी परद्रव्य का लदान न आये। मैं किसी भी परपदार्थ को अपने उपयोग में न लूं, मैं किसी पदार्थ में अपना उपयोग न जुड़ाऊं ऐसी आकांक्षा होती है और यह जीव ऐसा चिन्तन भी करता है, अपने आपमें विकल्प करता है, इसकी भी एक चिन्ता हो जाती है। मुझमें कोई परद्रव्य न आये, मैं किसी भी परद्रव्य का विचार न करूं, इसकी भी एक चिन्ता लगा ली जाती है। और यह जीव कोशिश भी करता है, मगर सफल नहीं हो पाता। जैसे कि लोग सोचते हैं कि जब जापमें बैठते हैं, सामायिक में बैठते हैं, तो ऐसे-ऐसे भी विचार आ जाते हैं कि जिसका हम और समय ख्याल भी नहीं करते। जब सामायिक नहीं कर रहे, जाप नहीं कर रहे, घर में हैं, दुकान में हैं, कहीं हैं वहां उतने विकल्प नहीं आते जितने कि जाप करने में, सामायिक करने में विकल्प आया करते हैं। तो खास मौका तो वह जापका है ही कि किसी परद्रव्य को विषय न करें और एक अपने आत्मा का ही ध्यान रखें। लेकिन वहां और उल्टी चक्की चलती जाती है। तो क्या उपाय है कि हम परद्रव्यों के विषय में न आयें। पहली बात तो यह सोचिये कि इस भीतर में गुजरने वाली विडम्बना से तो डर न रहे और बाहर में कोई पदार्थ मेरे उपयोग में न आये, इस ओर की चिन्ता कर रहे तो प्रथम आवश्यक यह है कि जिसको यह चाहिए कि कोई परपदार्थ मेरे विकल्प में न आये, वहां अन्तर में निरखना है कुछ, अपने ही भीतर देखना है कुछ।

वास्तविक भेदविज्ञान के दो फल—जब अपने भीतर देखने को चलते हैं तो वहां दो पद्धतियां हो जाती हैं—एक तो हटने के लिए देखना और एक लगने के लिए देखना। भीतर में जब हम अपने को देखने चलेंगे तो इसकी दो पद्धतियां बनेंगी। एक तो किसी से हटना है और एक किसी में लगना है। अच्छा हटना किससे है ? देखो जब भीतर दृष्टि दे रहे हैं, अपने आत्मप्रदेश में ही कुछ परख बन रही है तो बाहर से हटने का तो कोई प्रसंग नहीं, बाहर की तो हम बात कर ही नहीं रहे हैं, भीतर की बात कर रहे हैं और हमको कुछ से हटना है और कुछ में लगना है। तो किससे हटना है ? मेरे उपयोग में जो प्रतिबिम्ब हो रहा, प्रतिफलन हो रहा, कर्म के अनुभाग की छाया चल रही उस छाया के विकल्प से हमको हटना है। तो भेदविज्ञान हमें कहां करना कि जहां से भेदविज्ञान करने पर भेदविज्ञान दृढ़ हो जाय और उसमें हम सफल हो जायें, वह भेदविज्ञान अन्तर में करना। बाहर में भेदविज्ञान करने वाले तो अनेक लोग हैं। देहात के लोग भी जानते हैं, मकान मेरा नहीं, पुत्र मेरा नहीं, पति मेरा नहीं। जब कोई गुजर जाता है तब यों कहते भी हैं कि हंसा उड़ गया, मिट्टी पड़ी रह गई, ऐसा देहाती लोग भी बोलते हैं। तो बाहर का जो भेदविज्ञान है वह कोरा एक बाहर का भेदविज्ञान हमारे काम नहीं आता, क्योंकि वह केवल बात-बात का ही भेदविज्ञान रह जाता है, कोई असली रूप नहीं आ पाता। तो बाहर में भेदविज्ञान भी पुष्ट रह सके उसका भी आधार है और अमोघ भेदविज्ञान, जिस भेदविज्ञान के होनेपर नियम से हम बरबादी के कारण से तो हट जायेंगे और

अपनी आबादी, अपनी समृद्धि के स्थान में लग जायेंगे वह भेदविज्ञान यहां करना है। जैसे दर्पण है और चारों तरफ बहुतसी चीजें पड़ी हैं, दर्पण के पीछे भी पड़ी हैं याने जहां से प्रतिबिम्ब नहीं आता, दर्पण की पीठपर भी अनेक चीजें हैं, दर्पण के चारों तरफ भी अनेक चीजें हैं, हम उन बाहरी चीजों को देखकर यह ज्ञान बनायें कि दर्पण तो इन सब चीजों से न्यारा है तो यह है ऊपरी भेदविज्ञान। हर एक कोई जान सकता है कि यह दर्पण रखा है, यह दर्पण खम्भे से अलग है, भींत से अलग है, जिनका प्रतिबिम्ब हो रहा उनसे भी अलग है, और जो भीतपर खड़ा है, दर्पण के पीछे पड़ा है उनसे भी अलग है। दर्पण में ऐसा अलगपना मानना तो इस ढंग का है कि जैसे चौकी को और खम्भे को अलग समझ रखा है इसी ढंग का दर्पण से और बाहरी पदार्थों से अलग समझने की बात है। इसमें कोई पौरुष नहीं है। ऐसा सब कोई जानता है, किन्तु भेदविज्ञान यहां करना है कि दर्पण के सामने रहने वाले पदार्थ का निमित्त पाकर जो दर्पण में छाया हुई, प्रतिबिम्ब हुआ, झलक हुई, सो इस झलक से, जो दर्पण में ही घुसी दर्पण के प्रदेशों में ही है, उस झलक से दर्पण न्यारा है, यह भेदविज्ञान करना है। तो दर्पण में आयी हुई झलक और दर्पण का स्वरूप, यहां भेदविज्ञान करें तो वह है वास्तविक भेदविज्ञान। दृष्टान्त में इसी प्रकार कोई यों मोटे रूप से कहे कि मकान जुदा, मैं जुदा, परिवार जुदा, लोग जुदे, यह सब एक मोटा भेदविज्ञान है और ऐसे ही मोटे भेदविज्ञान की बात हर एक कोई कर सकता है और करते ही हैं लोग। पढ़े हों वे भी करते। इस भेदविज्ञान की बात तो हर कोई कर डालता है, मगर जो पूर्व कर्म बांधे गए, उनका उदयकाल आया, उस समय अनुकूल निमित्त पाकर यहां ज्ञान का तिरस्कार हुआ और क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक जो कर्म के परिणमन हैं उनकी यहां झांकी हुई और झांकी होने के ही साथ अब ये जीव के क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कहलाने लगे, क्योंकि विकल्प किया ना उनका। तो इस विकल्प से, इन झांकियों से, इन प्रतिफलनो से मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा जुदा हूं, यहां भेदविज्ञान करे कोई तो परद्रव्यों में न फंसे, उनके विकल्प न अपनाये, यह बात करना उसके लिए आसान होगी।

आन्तरिक भेदविज्ञान हुए बिना परभावनिवृत्ति की असंभवता—कोई अन्तर में रहने वाले भेदविज्ञान से तो भेद करता नहीं और आशा यह रखता है कि मैं बाहर रहने वाले पदार्थ को अपने उपयोग में न लूं, तो उसके लिए बड़ा कठिन होता, असम्भव होता। यही स्थिति है जाप और सामायिक में साधारणजनों की, जो यह शिकायत करते हैं कि जब जाप में बैठते हैं तब हमें ऐसे ख्यालात आ जाते हैं कि जिनको हमने कभी नहीं किया। तो यहां का भेदविज्ञान जो करे वह ज्ञानी, वही सम्यक्त्व का पात्र, उसी के सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। यह तो बतलाया एक हठ की चीज। यहां से हटे तो परद्रव्यों के विकल्प से दूर हो सकते हैं। तभी संभव दूसरी चीज समझिये लगने की। कहां लगना कि जिससे परद्रव्य का विकल्प अपने आप दूर हो जाय, वह लगने का धाम है ऐसा अपने आपमें तकना। मैं ज्ञानमात्र हूं। देखो इसकी महिमा कुन्दकुन्दाचार्य ने कही और अमृतचन्द्र सूरि ने तो ऐसा विवरण करके बताया कि सब आधार एक इसी भावना पर है—मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान ज्ञान हूं, ज्ञान सिवाय अन्य कुछ नहीं हूं, ज्ञान ही ज्ञान हूं, ऐसी भावना, ऐसा अनुप्रेक्षण करें अर्थात् ज्ञानस्वरूप के अनुसार अपने में प्रकृष्ट रूप से अपने आत्मस्वभाव को निरखिये। मैं ज्ञानमात्र हूं। इस निरख में पहुंचे, इसकी धुन बनायें, इस ओर दृष्टि आ जाय, कोई परद्रव्य विषय में न आ सके। तो अपने आपके अन्तर को कुछ भी मुलायम न बनायें और आशा यह रखें कि परद्रव्य का मेरे में विकल्प न आये तो यह कैसे हो सकता है?

आत्मस्वरूप की सहजसिद्धता—अन्तर में अपने उपयोग में जिस ज्ञानस्वभाव को निरखा गया वह ज्ञानस्वभाव कैसा है? स्वभावसिद्ध है। देखो भगवान की पूजा करते ना और वहां बोलते हैं—सहजसिद्धमहं परिपूज्य, अहं सहजसिद्धं परिपूज्यते, यह भावाष्टक का अंश है और भावाष्टक की जो पूजा है उसमें भाव प्रधान होगा

तब ही तो भावाष्टक नाम रखा और जहां भाव की पूजा की गई है वहां मुख्यता है आत्मस्वभाव की। देखिये—द्रव्यपूजा करते समय में मुख्यता तो रहती है अरहंत सिद्ध की और भाव भी साथ रहता है, मगर उसके साथ-साथ चलता है और जहां भावपूजा होती है भावाष्टक बनाता है वहां मुख्यता है आत्मस्वभाव की। उसकी पूजा चल रही है, मगर प्रभु से निरपेक्ष होकर नहीं अन्यथा वह पूजा न कहलायेगी, वह ध्यान कहलायेगा। तो जब अरहंत सिद्ध भगवान की पूजा कर रहे हैं सिद्ध प्रभु की पूजा वहां मुख्य भावना है अपने आपके स्वभाव की पूजा करना। तब ही देखो—अहं सहजसिद्धं परिपूजये, 'मैं' यह तो एक कर्ता वचन है और सहजसिद्धं कर्मवचन है। सहज सिद्ध को पूजता हूं। सहज सिद्ध का अर्थ क्या है? जो स्वभावत: सहज ही अस्तित्व के कारण अपने आप ही जो सिद्ध है मायने परिपूर्ण है वह एक है आत्मस्वभाव। वह आत्मस्वभाव। वह आत्मस्वभाव विकसित हो गया है सिद्ध भगवान में, वहां अन्दर बाहर दोनों एकसी दशा है और इसमें अन्तर में तो है सहजसिद्ध दशा और बाहर में है संसारी दशा। ये दो दशायें एक साथ पड़ी हुई नहीं हैं। एक का नाम है शक्ति और एक का नाम हैं व्यक्ति। तो शक्तिरूपसे, स्वभावरूपसे मैं सहज सिद्ध हूं, सिद्ध के मायने निष्पन्न। मैं सहज कैसा निष्पन्न हूं? सहज के मायने कर्म नहीं हूं, शरीर नहीं हूं। चेतन हूं, उसको अन्य की अपेक्षा नहीं, उसके निमित्त की बात न सोची जाय। एक अपने अस्तित्व के कारण अपने आपमें जो स्वभाव है वह स्वभाव कहलाता है सहजसिद्ध। देखो—स्वयं ज्ञानसागर हैं हम आप और इसमें ही हमको अवगाहन करना है तब ही संसार के संताप हमारे दूर हो सकेंगे। तो हमें अपने आपमें अपने संताप को भी परखना और उसे दूर करना है, वह होगा अपने में अन्त:प्रकाशमान चैतन्य महाप्रभु की आराधना से, पर पूजा के समय बराबर सिद्ध प्रभु की ओर ध्यान जा रहा है। ध्यान और पूजा जिसमें यदि परमार्थत: सही ध्यान बने तो उसका रूप है पूजा से उत्कृष्ट, और जब यह ध्यान नहीं बनता है तो वहां व्यवहार की शरण लेकर पूजा हुआ करती है। तो मैं सहजसिद्ध को पूजता हूं सो उसमें क्या शब्द दिया? परिपूजये—पूजा करता हूं, पर उसके साथ जो 'परि' शब्द लगा है वह बड़ा अनूठा शब्द है, अलौकिक गम्भीर मर्म भरा हुआ है। परि उपसर्ग का अर्थ होता है समंगत् सर्व ओर से पूजता हूं, मायने मैं आत्मा हूं, मैं अपने आत्मा के प्रदेशों में यह अर्चना करता हूं और मैं सर्व ओर से पूजता हूं मायने सर्वप्रदेशों में पूजता हूं, पूजता हूं सर्व प्रदेशों में व्यापक अनादि अनन्त असाधारण सहज सिद्ध मैं चैतन्य महाप्रभु को पूजता हूं। कैसे पूजता हूं? एकरस होकर ही पूजा बनेगी, अलग-अलग खड़े होकर पूजा न बनेगी। व्यवहार पूजा तो जुदे खड़े हैं तो भी कहलाती है, मगर सहजसिद्ध अंतस्तत्त्व की पूजा जुदे खड़े होकर नहीं हो सकती, किन्तु ज्ञान में यह शुद्ध अंतस्तत्त्व समाया हुआ है, अनुभव किया जा रहा हो, ऐसा एकरस होकर ही इसकी पूजा बनती है। तो जिसका हमें आश्रय करना है, जिसकी धुन में हमें रहना है वह है सहज सिद्ध।

सहजसिद्ध की शाश्वत अन्त:प्रकाशमानता—जैसे मां तो बच्चेपर सदा दया की प्रकृति रखती है पर बच्चा यह मां से बिगड़कर, कुपूत होकर उल्टा चले तो दु:ख पाता है और जब उसमें सुबुद्धि आती है और अपनी मां का सहारा लेता है तो उसका संताप दूर होता है। उस समय बच्चा यह सोचता है कि हां अब तक सहारा मिला, लेकिन वह सहारा जिसका मिला वह तो पहले से ही सहारा बना हुआ था। पर कुपूत बनकर सहारा छोड़ा, सुपूत बनकर सहारा लिया, ऐसे ही यह अंतस्तत्त्व यह सहजसिद्ध परमात्मतत्त्व प्रत्येक प्राणी में परमार्थ सहारा रूप अनादि अनन्त विराजमान है। अब यह उपयोग कुपूत बनकर इससे हटकर बाहर बाहर नेह लगाता है तो दु:खी होता है और जब बाहर रागद्वेष मोह त्यागकर अपने इस चैतन्य महाप्रभु की शरण में आता है तब उपयोग तो यह सोचता है कि मुझको मिला अब शरण। शरण अब मिला, लेकिन जो मिला वह तो पहले से ही निष्पन्न है, पहले से ही सहज सिद्ध है। वह गया कहां था? हमने नहीं देखा, तो ओझल, हमने देखा तो हमारे समक्ष। तो जिस सहज सिद्ध का हमें सहारा लेना है जिससे कि परद्रव्यके विकल्प न रहें, संसार के क्लेश दूर हो जायें, वह सहारा क्या है? यह सहजसिद्ध

स्वभाव सिद्ध अन्तरमें रहने वाला चित्प्रकाश। देखो जब बाहर यह बात पायी जा रही है कि चौकी चौकी में ही है, पुस्तक पुस्तक में ही है। पुस्तक में चौकी नहीं, चौकी में पुस्तक नहीं, अत्यन्त निराले-निराले पदार्थ हैं, तो ऐसे अन्तर में भी तो देखो—मैं हूं एक चित्प्रकाश चैतन्यस्वरूप और बाहर में हैं सब पदार्थ। यह मैं चित्प्रकाश इन बाहरी समस्त पदार्थों से अत्यन्त निराला ही तो हूं। क्या सम्बंध है मेरा किसी भी अणुमात्र से ? परमाणुमात्र से भी मेरा सम्बंध नहीं हैं, ऐसा परके सम्बन्ध से रहित चैतन्यप्रकाशमात्र अपने आपको निरखें तो वहां परमशरण प्राप्त होता है। ऐसा यह मैं अन्तःचित्प्रकाश परमधाम यही है मेरा परमशरण। एक निर्णय बना लो और जब चाहे बार-बार झट उसी एकपर दृष्टि लगावें। मेरा शरण है मेरा चैतन्यस्वरूप। बाहरी पदार्थ कोई भी मेरा शरण नहीं, बल्कि उनका सम्पर्क एक विभाव का हेतु है, मेरा शरण तो मेरा वह है जो स्वरूप मेरे से कभी अलग नहीं हो सकता। उस ही स्वरूपमय मैं हूं। वह चैतन्यस्वरूप वह है मेरा शरण। बस मैं पूरा अपनी शक्ति लगाकर एक इस परमशरण चैतन्यधाम आनन्द-धाम इस अंतस्तत्त्व में ही अपनी लौ लगाऊंगा, न लगावें तो भी संकल्प तो बनावें। दृष्टि तो है, एक निर्बल पुरुष जिसके अन्दर साहस है वह किसी से लड़ाई के समय इतनी दम भरकर बोलता है कि जैसे कहते हैं कि गड़ा हुआ पत्थर उखाड़कर फेंकना चाहता है। इतना साहस जगता है एक निर्बल अन्तःसाहस जगाकर। हमको तो गड़ा पत्थर भी नहीं उखाड़ना, अपने आपमें प्रकट जो चैतन्यस्वरूप है उसको दृष्टि में लेने की बात है। यहां तो कोई असम्भव बात नहीं करनी है, करनी है एक साहस दृढ़ता उपयोग को लगाने की बात।

लोकलिहाज से धर्मपात्रता बनाकर लोकलिहाज तजकर अन्तः ज्ञानानुभव करने का स्मरण— देखो दो तरह की स्थितियां होती हैं, अपने को एक धर्ममार्ग में लगाने के लिए व्यावहारिक बात कह रहे हैं। एक तो यह है कि सबका संकोच सबकी लाज रखना। जिस संकोच के कारण, जिस दूसरे की लाज के कारण यह व्यसन में न लगे, पाप में न लगे उसको बताया है ना। अच्छा यह तो है एक पद्धति एक सामान्य धर्म की याने ज्ञानानुभवरूप धर्म के लिए नहीं है यह पद्धति। यह ध्यान में रखना मिटे, पाप न बने, व्यसन न बने, मोटा अपराध न बने। जो अपराध लोक में निन्दा के कारण बनते हैं बस उसकी भर दवा है कि दुनिया की लाज रखें, दुनिया का संकोच रखें, मगर ज्ञानानुभव के लिए तो ऐसा साहस बनाना होगा कि हमको किसी की लाज नहीं, हमको किसी का संकोच नहीं। देखो एक दूसरी ओर मध्यम और उत्तम दो श्रेणियों की बात कही जा रही है। ध्यान में लाना। मैं अपने सहज-स्वरूप का अनुभव करने का पात्र कब हूं तब मुझे समस्त परभावों का लगाव मेरे चित्त में न रहे। न राग का लगाव रहे, न द्वेष का लगाव रहे, ख्याल का लगाव रहे, न संकोच का लगाव रहे। उस ज्ञानी का जो ज्ञान के अनुभव के लिए बड़ा साहसी बना हुआ है उसके लिए तो सारा जहान प्रशंसा करे तो उसके लिए बेकार और सारा जहान निन्दा करे तो उसपर कुछ असर नहीं। इतना जिसके भीतर में भाव मजबूत हो गया है वह है ज्ञानानुभव का पात्र। यह भाव कब मजबूत हो, जिसने यह निर्णय किया है कि मेरे लिए तो करने का काम दूसरा है ही नहीं ऐसा जिसका दृढ़ निर्णय हुआ है उसके यह साहस जगता है कि सारा लोक चाहे हमारा समर्थक हो तो भी उससे मुझे लाभ नही, बल्कि उसका ख्याल जगे तो उससे बरबादी है। सारा जहान निन्दा करे उससे मेरा बिगाड़ नहीं, किन्तु उसमें मेरा ख्याल जायगा तो बिगाड़ है। देखो मध्यम दर्जे के धर्म के पालन में तो जरूरत है लोकलिहाज की, लोकलिहाज से भी अनेक धर्मसाधन होते हैं लेकिन वह एक साधारणतया धर्मपालन के लिए है, लेकिन जब ज्ञानानुभूति करने का एक साहस जगाये कोई तो वहां लोकलिहाज बाधक है, उसका भी कटाव करके केवल एक निर्णय के साथ कि मुझे तो ज्ञानस्वरूप का अनुभव करना है, मेरे को दूसरा कोई काम नहीं, यही एक मेरा प्रधान काम है। इस तरह के साहस के साथ जो अन्तर में दिखे उसको दिखता है यह अन्तःचित्प्रकाश। यही है मेरा परमशरण। इसको देखकर प्रसन्नता होती है, स्वीकार करते हैं ॐ ॐ, यहीं रहो, यहीं रहो, यह हूं मैं चैतन्यस्वरूप।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन चतुर्थ भाग समाप्त ॥

पंचम भाग

प्रियतम ! क्यों विकल्प किया ? क्यों परद्रव्य को ध्यान में दिया ? ज्ञानको ज्ञानरूप ही परिणमने दो, तुम तो अलग निछक्के खड़े हो जावो, जैसा स्वयं अन्त: होना है सो होने दो, उसमें विशेषता मत डालो । अन्तर्नाथ ! तुम स्वत: परिपूर्ण हो, समस्त परके भार से स्वय अलग हो, स्वरूपमात्र होने से स्वयं अनाकुल हो । परेशानी की तो बात ही नहीं । यदि बनावट नहीं करते हो तो कष्ट हो ही नहीं सकता । अनाकुल, सहजानन्दस्वरूप, यह चिज्ज्योति-प्रकाश, यही है मेरा संतोष धाम, अहा, ॐ···ॐ····ॐ···शुद्धं चिदस्मि ।

ज्ञानस्वभावकी प्रियतमा—हम आप सबको प्रिय से प्रिय पदार्थ की छांट रहा करती है । हमको सर्वाधिक प्रिय क्या है ? जो सर्वाधिक प्रिय होता है उसको कहते हैं प्रियतम ! अर्थात् जितने भी प्रिय पदार्थ हैं, अभीष्ट वस्तु हैं उन सबमें जो है सर्वाधिक प्रिय उसका नाम है प्रियतम । तो जरा अपने प्रियतम की खोज तो करो । लोक-व्यवहार में प्रियतम शब्द बिगड़कर पीतम शब्द बोलते हैं, और स्त्री अपने पति को पीतम कहती हैं । जैसे उनकी दृष्टि से उनसे बढ़कर कुछ नहीं है तो वहां प्रियतम शब्द लगाया, और भी जिसको जो अधिक प्रिय हो वह वहां प्रियतम होता है । जरा अपने आत्मा की ओर से निगाह तो करो, अपना प्रियतम कौन है ? यथार्थ प्रियतम कौन हो सकता है ? जिसपर प्यार बदल सके वह है सर्वाधिक प्रियतम । लोक में जितने भी प्यारे पदार्थ लगते हैं उन पर से प्यार हट जाता है । परिस्थितिवश कभी कोई चीज प्रिय लग रही है तो वह प्रिय फिर नहीं रहती । जैसे जाड़े के दिनों में कपड़े बहुत प्रिय लगते हैं, गर्मी के दिन आते हैं तो वे प्रिय नहीं रहते । तो उन कपड़ों को सर्वाधिक प्रिय नहीं कहा जा सकता, और एक के जीवन की बात देखो—मनुष्य हुआ, पैदा हुआ बालक है तो उस बालक को सर्वाधिक प्रिय क्या लगता है उस समय जबकि वह शिशुपन में है ? उसे प्रिय लगती है अपनी मां की गोद । मां की गोद से बढ़कर उसे और कुछ प्यारा नहीं । जब बालक बड़ा होता है, दौड़ने लगता है तो उसको मां की गोद प्यारी नहीं रहती । मां उसे जबरदस्ती गोद में रखे तो वह भागने की कोशिश करता है । तो उसे प्रिय क्या हो गया ? खेल । ८ वर्ष का हुआ, विद्या पढ़ने लगा तो बुद्धिमान बालक है, जहां प्रश्न के उत्तर आते हैं तो उसे बड़ा सुहावना लगता है । अब उसे विद्या प्रिय हो गई । उसके मुकाबले खेल प्रिय नहीं है, और बड़ा हुआ तो परीक्षा प्रिय, और बड़ा हुआ तो डिग्री प्रिय, शादी हुई तो स्त्री प्रिय, बच्चे प्रिय । बच्चे होनेपर बच्चों के मुकाबले फिर स्त्री प्रिय नहीं रहती और फिर धन भी चाहिए तो धन प्रिय, यों सब प्रिय बदलते गए, चलता रहा काम । मानो एक दिन घर में लग गई आग तो यह घबड़ाता हुआ बाहर से आता, बच्चों को निकालता, धन निकालता, सब कुछ तो निकाल लिया, पर एक बच्चा न निकल सका, आग तेज बढ़ गई, तो यह पड़ौसियों से कहता है—अरे भाई कोई हमारा बच्चा निकाल दो, हम २० हजार रु० देंगे । अब देखिये उसे क्या प्रिय हो गया ? कुछ को लग रहा कि बच्चा प्रिय हो गया जिसके लिए २० हजार रु० दे रहा, लेकिन खुद क्यों नहीं निकालता ? तो उसे प्रिय हैं अपने प्राण । यहां तक तो बहुत से लोग सोच सकते हैं कि सर्वाधिक प्रिय चीज होती है प्राण । प्राणों से प्यारा और कुछ नहीं होता, ठीक भी है, मोही जगत में ऐसा ही निर्णय ठीक है कि प्राणों से प्यारा और कुछ नहीं समझे, लेकिन उस पुरुष को जब ज्ञान वैराग्य जगा और सब कुछ घर विकल्प छोड़ा, आत्मध्यान में लगा और शुद्ध ज्ञानमात्र सर्वविविक्त सहजस्वभावी अंतस्तत्त्व के ध्यान के प्रसाद से जो एक अनुभव हुआ सहज आनन्द का उसमें उसका यह निर्णय होता है कि ज्ञान में ज्ञानस्वरूप समाया रहे । इस स्थिति से बढ़कर समृद्धि कुछ नहीं है । तो उसका निर्णय अब क्या हुआ कि सर्वाधिक प्यारा ज्ञान है, प्राणों से भी प्यारा ज्ञान है, जिसके उदाहरण हैं कि सुकौशल सुकुमाल आदिक मुनिवरों के उपसर्ग हुए और जिनके इतना सामर्थ्य था कि जरा खड़े भर हो जाते तो स्यालिनी कहीं भाग खड़ी होती और शेर का भी मुकाबला कर सकते थे,

लेकिन यह सोचकर कि विकल्प करना ठीक नहीं, बाह्य वस्तु में उपयोग जोड़ना ठीक नहीं। तुम ज्ञान में ही झुके रहो, ज्ञान में ही ज्ञान बनाये रहो और इस ज्ञान का ही आनन्द लूटते रहो, इससे चिगकर कुछ भी बाहरी कार्य किया तो आगे की फिर क्या आशा? चिगो मत। अपने ज्ञान से ही मग्न रहो तो देखो प्राणों की परवाह न रही उस आत्मा को और ज्ञान उसे प्रिय हो गया। वह स्पष्ट जानता है कि प्राण तो भव-भव में मिले और प्राणों से ही संसार के संकट लगे तो प्राण प्रिय चीज नहीं है, प्रिय चीज है ज्ञान में ज्ञान का समा जाना।

विषय विकल्पों से निवृत्ति की भावना कर आत्मकरुणा के कर्तव्य का अनुरोध—भाई अगर अपने आपपर दया उत्पन्न हुई हो तो यह निश्चय बनाओ कि मेरा जीवन तो ज्ञानानुभव के लिए है, अन्य बातों का हममें स्थान न होना चाहिए। धुन बनायें कि ज्ञान का अनुभव जगे, इस महान लाभ के लिए कषायों का बलिदान करना होगा। क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें छोड़नी होंगी, हठ, पक्ष, कपट, तृष्णा आदि छोड़नी होंगी। सर्व कुछ छोड़ना होगा, और मिले तो ज्ञान में इस चैतन्य महाप्रभु का दर्शन मिले। यही सर्वाधिक प्रिय है। यह मनुष्यजन्म बड़ा ही दुर्लभ जन्म है, इसे यों ही न खोयें। अपने को ही निरखना। मेरे लिए मात्र मैं ही हूं शरणसार, जिम्मेदार। मेरे को और कुछ न चाहिए। मेरे को और कुछ नहीं करना है। ध्यान बनावें, उद्देश्य बनावें, मेरा सहज ज्ञानस्वरूप मेरे ज्ञान में बसे। जब ज्ञान में अपना सहज ज्ञानस्वरूप बसता है तो वहां क्या जगा, क्या दीखा, क्या अनुभवा? अनादि अनन्त सनातन सहज चैतन्यस्वरूप, वह है प्रियतम। प्राणों से भी प्रिय है, और अहंकार में जो जो कुछ अपने को समझा जाता उस रूप जीव को भी आखिर ज्ञान जगे, पर होगा प्रियतम यही अंतस्तत्त्व। कितना सुखमय कितना आनन्दमय स्वरूप है, लेकिन जैसे शान्त सरोवर में ढेला फेंक दे कोई तो उसमें तरंग उठती है ऐसे ही इस शान्त अनाकुल स्वभाव इस अंतस्तत्त्व में, इस उपयोग में जो पूर्वबद्ध कर्म का अनुभाग का ढेला गिर गया अर्थात् उन कर्मों का प्रतिफलन हुआ, प्रतिबिम्ब हुआ कि बस योग्यता तो थी ऐसी कि विकल्प करने लगे तो वहां विकल्प की तरंग उठने लगेगी। ज्ञानी पुरुष के अन्तःवचन हैं कि अहो क्यों ये विकल्प उठे? आखिर विकल्प उठने में कुछ इस ज्ञान ने भी तो अपने ज्ञानकी ओर से कुछ बात तो की है। हे प्रियतम! क्यों विकल्प किया? कुछ अटकी थी क्या? ज्ञान को मैं विकल्परूप बनाऊं, तरंगरूप बनाऊं, यह मेरा, यह विरोधी, यह इष्ट, यह अनिष्ट, यह मित्र, किसी भी प्रकार का जो विकल्प बनाया गया क्या इस विकल्प बिना कुछ मेरी अटकी थी? क्यों विकल्प किया? देखो आत्मकरुणा की बात है। भीतर में यह ही दृष्टि बनायें कि क्यों विकल्प हुआ? क्यों परद्रव्य विषय में आये? देखो बात यद्यपि सब एक साथ होती है, लेकिन कार्यकारण भाव स्पष्ट रहता है। विकल्प हुआ तो परद्रव्य विषय में आये। परद्रव्य विषय में आये तब इसने विकल्प की व्यक्ति की। अरे दोनों ही तजो, मत विकल्प उठे, मत परद्रव्य मेरे उपयोग में आयें? उनमें मैं न जुड़ूं।

मात्र ज्ञातृत्व परिणति के ही होते रहने में भावना की उमंग—एक ज्ञाता द्रष्टा रहने के रूप में यदि बाह्य पदार्थ झलकते हैं तो झलकने दो। वह तो एक सहज होने वाला काम है पर अपनी ओर से किसी परद्रव्य में उपयोग जुड़ता है, उसका ख्याल बनाते, ऐसा क्यों करते हो प्रियतम? तुम अपने इस सहजस्वरूप पर ही क्यों नहीं टिके रहते हो? ओह देखो प्रियतम उपयोग, उपयोग तो है परिणति और प्रियतम है सहजस्वभाव। जब एक निष्कपट खुले रूप मिलन होता है सहज अंतस्तत्व का और उपयोग का तो चाहे वहां यह कह लो—उपयोग तुम क्यों दुःखी होते, क्यों गड़बड़ा रहे हो और चाहे यह कह लो प्रियतम कि तुममें क्यों दुःख आता है? जब एक मेल होता है तब एक अनुरक्ति होती है। तो चाहे इस ओर से कहो, चाहे उस ओर से कहो—हे प्रियतम! तुमने क्यों विकल्प किया? क्यों परद्रव्यों को विषय में लिया? देखो ज्ञान को ज्ञातरूप ही परिणमने दो। कैसा अन्तः साहस चाहिए। कैसा विभाव से, मलिनता से, अपवित्रता से बचाव चाहिए? ज्ञान को ज्ञानरूप से ही परिणमने दो। मत तरंग उठे, ज्ञान

बल बढ़ेगा तो विकल्प हटेंगे। और ज्ञान दबेगा, तिरस्कृत होगा तो वहां विकल्पों की वृद्धि होगी। सो ज्ञान तुम ज्ञान ही तो हो, ज्ञानमय ही तो हो, क्यों न अपने ज्ञानस्वरूप की आराधना करके ऐसा ज्ञानबल बढ़ाओ कि इस ज्ञान की ही विजय हो। ज्ञान को ज्ञानरूप परिणमने दो।

कर्मसंघर्ष से हटकर निज आनन्दधाम में प्रवेश का पौरुष—भैया! किस तरह पकड़ो अपने इस सहज ज्ञानस्वभाव को कि जैसे कोई दूसरा लड़ाई झगड़ा करने आता है तो अपने ही आदमी को समझा बुझाकर वहां से हटाकर घर ले जाया करते हैं, ऐसे ही यहां विकल्प विडम्बना हो रही है तो यह ज्ञानी उपयोग अपने इस प्रियतम को धीरे से नीचे से ही बिना लाग-दाग के ही वहां से हटाकर अपने आनंदधाम में लिए जा रहा है। अब उस लड़ाई के अड्डे से हटें और अपने अन्तः आनन्दस्वरूप में प्रवेश करें। ज्ञान को ज्ञानरूप ही परिणमने दो। क्यों उस संघर्ष में क्यों उस कर्म के आक्रमण में, क्यों वहां विकल्पजाल में अपने आपको लगाते हो? दो बातें हो रही हैं ना। ज्ञान अपने में ज्ञान का काम करने को तैयार है, और यह विकल्प यह अनुभाग, यह प्रतिफलन, यह विकल्परूप से विडम्बना करने को तैयार है। तो समझाया जा रहा है अपने ज्ञानस्वरूप को। आवो, अलग हो, इससे अलग खड़े हो, छके रहो, निर्भय रहो, अपने आपमें रहो, इस कर्माक्रमण की लड़ाई के इस धाम से हटकर अपने आपके धाम में आवो। कैसा निम्नगा प्रकृति से अपने ही निम्न रास्ते से अपने आपके प्रियतम को आनन्दधाम में ही विश्राम कराया जा रहा है। वहां जो होता है होने दो। यहां जो स्वयं अन्तर में होता है सो होने दो। अपने आप बिना परकी टेक किए, बिना परका उपयोग जगाये, नाम लिए बिना अपने आप अन्तः जो वर्तना हुई सो बर्तने दो। जब कोई किसी बात में थक जाता है तो एक बार वह भी कहता है कि जो अपने आप होता है सो होने दो। हम उसमें न पड़ेंगे, तो ऐसे ही यह अपने उपयोग से कह रहा है कि जो होता हो अन्तः स्वयं अपने आपमें सो होने दो, किन्तु हम किसी कर्म प्रतिफलन में विकल्प मत करें, और न किसी परद्रव्य को विषय करें। यह बल वहां प्रकट होता है जहां अपना सहजस्वरूप ज्ञानदृष्टि में प्रकट होता है। यह हूं मैं। देखो ज्ञानानुभूति की तृष्णा बनायें, अन्य बात चित्त में मत लें, कोई किसी का साथी नहीं, कोई किसी का कुछ कर दे सकने वाला नहीं, कोई किसी को समृद्धि दे देगा नहीं, खुद ही खुद का जिम्मेदार है। बिल्कुल प्रकट, सबसे निराला अपने आपका ही यह स्वामी है। अपनी बात सोचें। कषाय के आग्रह में मत हों। अपने में जो जब परिस्थिति पर्याय होती है उसकी हठ मत करें। होने दो स्वयं सहज अन्तः। तुम विकल्प की टेब छोड़कर निछक्के अपने आपमें विश्रामसे बैठो। जो होता हो स्वयं अन्तः सो होने दो, उसमें विशेषता न डालें।

अध्यात्म में ज्ञानमात्र सामान्य के आदर की महिमा—विशेषता आती है विकल्प से। जगत में, लोक में विशेष का आदर होता है तो अध्यात्म में सामान्य का आदर होता है। विशेष हेय की दृष्टि से देखा जाता है तो सामान्य उपादेय की दृष्टि से देखा जाता है। भले ही मुख्य परिस्थितियों में कुछ कुछ विशेष उपादेय है पर अन्ततोगत्वा ज्ञान ज्ञानरूप ही रहे, ज्ञाताद्रष्टा का ही परिणमन रहे, यह ही एक अलौकिक बात उपादेय रह जाती है। किससे कहा जा रहा है? अपने आपके सहज अन्तर्नाथ से। किस दृष्टि में देखकर जाना गया है वह? एक व्यापक सामान्य दृष्टि से। सामान्य के मायने है यह कि जहां विकल्प विशेष तरंग न हो और जो शाश्वत रह सके, सदा रह सके, जिसे कहो एक ध्रौव्य धर्मयुत जो अपना अनादि अनन्त सनातन शाश्वत सहज स्वरूप है उसका आदर है अध्यात्म में और जो अपने आपमें पर्याय जगती है, पर्याय हुए बिना रह न सकेगी, पर्याय तो जगेगी ही, किन्तु उस पर्याय के विकल्प नहीं करता ज्ञानी कि यह मैं हूं और इस रूप ही रहना मुझे इष्ट है, यह होता है अज्ञानी जीवों में। तो वही बात कि ज्ञानियों को विशेष का आदर नहीं, किन्तु सामान्य स्वरूप का स्वभाव का आदर है। जब कि लोक में अगर यह कह दिया जाय कि यह तो साधारण पुरुष है तो उसमें वह अपना अपमान समझता है और यह बताया जाय कि

यह तो खास विशेष आदमी है। तो वह अपना इसमें महत्त्व समझता है, पर अध्यात्म की गति, इन्द्रिय, काय, योग आदिक जितने विशेष हैं उन विशेषोंरूप अपने को अनुभव करने को कहा जाय तो वह आदर के योग्य नहीं है। अपने को अनुभव करें सहज ज्ञानमात्र, जहां विकल्प विश्रान्त हो जाते हैं।

परिपूर्ण ज्ञानघन आत्मस्वरूप के अवलोकन की महिमा—अपने अन्तः देखा गया जो यह त्रैकालिक ध्रुव परमपारिणामिक भावस्वरूप, सहजस्वरूप निरपेक्ष शक्तिरूप, उसको कह रहे हैं कि हे अन्तर्नाथ ! तुम स्वतः परिपूर्ण हो, तुम अधूरे नहीं हो, किसी भी पदार्थ की सत्ता आधी नहीं हुआ करती। जो है वह पूरा है। भले ही विकल्प में लोग कहते हैं कि मकान बनाया जा रहा है, भींत उठ पायी है, छत नहीं गिर सकी है, अभी मकान अधूरा है। तो जगत में अधूरा कुछ होता ही नहीं है। जो है वह पूरा है। अब यह कल्पना की बात है कि जितने को समझ रखा है उतना न आये तो कहते हैं अधूरा, पर जो जो वस्तु है, जो जो द्रव्य है, जो जो अणु है वह सब अपने में पूरा-पूरा है, अधूरा कुछ नहीं होता। जैसे दामों में जो सबसे न्यूनतम दाम है, छदाम कहो, दमड़ी कहो, जिसका और भाग न किया जा सके वह है एक चीज और पैसा रुपया यह एक चीज नहीं। मुद्रा में भले ही बना दो मगर ज्ञान में, गणित में तो एक चीज नहीं है। १०० पैसों का है रुपया, वह तो १०० पैसों का समुदाय है। तो जिसे यहां यूनिट कहते हैं सबसे छोटा एक तो जो भी सबसे छोटा एक है अर्थात् अपने प्रदेश में रहने वाला जो एकत्वगत पदार्थ है वह अधूरा नहीं होता। आधी सत्ता के मायने क्या ? तो हे प्रियतम ! तुम तो स्वतः परिपूर्ण हो। लोग अनुभव करते हैं ना कि मैं अधूरा रहूंगा। अरे जो जो कल्पनायें करते हैं वे कल्पनायें पूर्ण नहीं होतीं तो अपने को अधूरा मानते हैं, लेकिन तुम प्रदेशवान हो, तुम अपने आपमें स्वतः परिपूर्ण हो, और समस्त परके भार से स्वयं अलग हो। जब अपने आपके इस सहज स्वरूप को कोई निरखे तो वह अनुभव करेगा कि मैं समस्त पर और परभावों के भार से स्वतः ही विविक्त हूं। सहज स्वरूप में कोई भार नहीं, जहां यह अनुभव जगा—मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूप में अन्य का प्रवेश नहीं, अतः निर्भार हूं, मुझपर बोझ नहीं, तब जो मेरा स्वरूप है, जो मेरा सहज लक्षण है, जो जीव है सहज चैतन्य-स्वरूप परमब्रह्म, उसमें भार नहीं है। हे अन्तर्नाथ ! तुम परिपूर्ण हो, भाररहित हो और इसमें परेशानी की तो गुँजाइश ही नहीं है, क्योंकि स्वरूपमात्र हूं, निराकुल हूं, इसके स्वरूप में परेशानी कहां से आये ?

स्वरूप में परेशानी नहीं है, स्वभाव में परेशानी नहीं। क्यों हो परेशानी ? विकल्प किया बस परेशानी हो गई। यह परेशानी यद्यपि आत्मा की परिणति है तो भी परसंग बिना नहीं होती। उसमें परसंग ही निमित्त है। तस्मिन्निमित्तं परसंग एव, वस्तुस्वभावो भवेद् तावद्। यह भी वस्तुस्वरूप है कि विकारभाव में विकृत परिणमने वाला पदार्थ स्वयं निमित्त नहीं होता, उसमें परसंग ही निमित्त है। यदि स्वयं स्वयं के विकार का निमित्त हो तो विकार का नित्य कर्ता हो जायगा। तो उस अविकार शक्तिस्वरूप को देखो। उसमें आकुलता नहीं, वहां परेशानी नहीं। हां परेशानी तब होती है जब बनावट की जाती है। बनावट में कुरूपता है, बनावट में परेशानी है, बनावट में क्षोभ है, बनावट में आकुलता है। कुछ न बनो, बनते हुए भी न बनो, यद्यपि हम पर्याय में चलते हैं, पर्यायरूप बनते हैं, पर हम अपने उपयोग में बनावट को तो न ग्रहण करें और भीतर अन्तः प्रकाशमान जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसको आत्मसात करें। यह मैं हूं, जहां बनावट है वहां क्लेश है। जहां बनावट नहीं वहां क्लेश नहीं। तो हे अन्तर्नाथ ! तेरा स्वरूप अनाकुल है। तू सहज आनन्दस्वरूप है। वह कौन ? यह चैतन्य ज्योति प्रकाश। यह मैं हूं।

आनन्दमय भविष्य का आधार परमार्थ मैं का निर्णय—देखो उस मैं के निर्णयपर सब कुछ अवलम्बित है। जिसने पर्याय में मैं का निर्णय किया वह संसार में रुलता है। जिसने अपने सहज स्वरूप में 'यह मैं हूं,' यों मैं का निर्णय किया वह संसार से छूटता है ! इस मैं के निर्णय में हर जगह दो आयेंगे—हटना और लगना। सब जगह दो बातें चलती हैं—जगमग। जैसे आत्मा में जगमग स्वरूप है ना। ज्ञान की ओर से देखो तो जग और आनन्द

की ओर से देखो तो मग। ज्ञान में उछाल है और मग में प्रवेश है, और जीव का स्वरूप ज्ञानानन्दमय है। यह चल रहा है उछाल और प्रवेश जग मग। तो जैसे जगमग केवल एक एक रहे, मग न हो तो जग की कीमत नहीं, जग न हो मग की कीमत नहीं। केवल मग रहे, जग न हो यह भी कभी हो नहीं सकता। आनन्द बिना ज्ञान का क्या मूल्य ? ज्ञान बिना आनन्द कहां से आया ? इसलिए आत्मा में ज्ञान और आनन्द दोनों ही सहजस्वरूप हैं।

हे ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य ज्योति प्रकाश ! तुम ही मेरी दृष्टि में रहो तो मेरी रक्षा रहेगी। मैं इस संसार के संकटों से हट जाऊंगा। शरीर कर्म सर्व बन्धनों से छुटकारा कभी पा लूंगा। तेरे सिवाय मेरे को और कोई शरण नहीं है। बाहर में जब दृष्टि देते हैं और उन पर द्रव्यों को विषय करने का विकल्प उठता है तो उन विकल्पों में मेरा उद्धार नहीं है। अपने ज्ञानानुभव की दिशा में बढ़ें और हर समय एक ही पौरुष रखें कि कोई मेरी ज्ञानानुभूति से एकदम विपरीत दशा में ले जाने वाला हो तो उसका परिहार हो। ज्ञानानुभव, स्वानुभव उसकी धुन रखें, उसके लिए ही मेरा जीवन है और विषयकषायों के लिए मेरा जीवन नहीं है। विषय कषायों में अनन्त भव बिता डाला, अब एक यह भव ऐसे विशुद्ध जीवन से ओतप्रोत बने कि जहां केवल एक ही लक्ष्य हो। कुछ न सोचें, कुछ न हठ करें, किसी भी पर्याय का आग्रह न करें। जो सत् है सो मैं हूं। जैसा सब जीवों का स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है। मेरा विरोधी कौन ? मेरा मित्र कौन ? सब मित्र हैं। मेरा विरोधी कोई है ही नहीं, क्योंकि स्वरूपसाम्य है सबके साथ। तो सबको निरखें परमात्मस्वरूप। मेरा कोई अनिष्टकारी नहीं, मेरा कोई विरोधक नहीं, ऐसा निर्णय बनाकर अपने आपके अन्तः प्रवेश करें, खूब ज्ञान का ही रस लूटें, ज्ञान में ज्ञानस्वरूप ही समाये। सारे विकल्प, लोक लिहाज, संकोच, परके ख्याल कौन क्या कहता, कौन क्या कहेगा ? अरे कुछ है ही नहीं मेरी निगाह में, क्योंकि यह मैं आत्म-करुणा करके अद्वैतदृष्टि से अपने आपके आत्माराम में आया हूं। वैसे तो यह ही मैं अंतस्तत्व हूं, ऐसा दृढ़ साहस बनायें, ख्याल बनायें और जितना जब जो कुछ कर सकें इसके लिए इसके प्रयत्न में रहें, यह है मेरा एक कल्याण का मार्ग। तो इस स्वरूप को देखकर यह ज्ञानी कहता है कि ओह यही है मेरा संतोषधाम। मैं उपयोग को कहां ले जाऊं कि संतोष रहा करे ? यह ही मेरा अन्तःस्वरूप, जहां कि अपने उपयोग को ले जाऊं तो संतोष रहा करे। यह है संतोष। अहा बड़ा प्रसन्न होता है ज्ञानी। इस निज संतोषधाम को निरखकर और बारबार स्वीकार करता ॐ, ॐ, ॐ यही हूं मैं संतोषधाम। यही हूं मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप, यही हूं मैं चैतन्यमहाप्रभु। परमपिता कारणसमयसार, यही हूं मैं अपना सर्वस्व, यह उपयोग रहे तो संतोष में बाधा नहीं। यहां का लक्ष्य छोड़ देते हैं और बाहर में ही संग्रह विग्रह करते हैं उनको संतोष प्राप्त नहीं होता।

ॐ शान्तिः ? शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त ॥

षष्टम भाग

मैं ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा कर्तव्य केवल एक ही यह है कि मैं ज्ञान ही ज्ञानरूप से परिणमूं। इस दुर्लभ नरभव में यदि अपने इस कर्तव्य को न कर सका और अज्ञानरूप से परिणमन करने के अकर्तव्य के फल में पेड़, कीड़ा आदि कुछ हो गया तो फिर कितनी विडम्बना ? और फिर रहेगा क्या यह समागम मायाजाल ? जिसके विकल्प में पाप का भार लादा जा रहा है। प्रियतम ! चेत, अपने में आ, अंतर में अपने ज्ञानस्वरूप प्रभु के दर्शन कर। यह ज्ञानप्रकाश…यह ज्ञानपुञ्ज यह ज्ञान ज्ञानरूप से परिणमता हुआ कितना आनन्द पा रहा है, कितना पवित्र विलस रहा है…ॐ…ॐ…ॐ…शुद्धं चिदस्मि।

अविकार ज्ञानभव की आराधना का उपक्रम—एक ही दृष्टि में अपने अन्तर में अपने सहजस्वरूप को निरखकर ज्ञानी अपनी प्रतीति रख रहा है कि मैं ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञान सिवाय मेरे में और क्या ? और मेरे में ज्ञानघन रूप, घनरूप पड़ा हुआ है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान ही में तन्मय है। अन्य सब जो गुण बताये जाते हैं वे इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व की पहिचान के लिए कहे जाते हैं। जो कहा जाता है वह है व्यवहारनय से, किन्तु कहा गया वह यथार्थ, अटपट नहीं, जिन लक्षणों से ज्ञानमात्र, अंतस्तत्त्व की पहिचान हो वह ही लक्षण आचार्य संतों ने बताया है अभेददृष्टि से, मैं ज्ञान ही ज्ञानस्वरूप हूं, जब मैं ज्ञान ही ज्ञानमात्र हूं और मैं पदार्थ हूं, निरन्तर परिणमता रहता हूं तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि मैं ज्ञान ज्ञान का परिणमन करता रहता हूं। हां औपाधिक दोष हों कि मैं ज्ञान विकल्परूप परिणम जाऊं तो वहां भी मैं ज्ञान की ही तो परिणति कर रहा हूं, औपाधिक दोष नहीं हैं, तो यह मैं ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता हूं। सो मैं ज्ञान ज्ञानरूप ही परिणमता रहूं, यही एक भावना ज्ञानी संत करता है। उनके सारे संकट टल चुके जिसने ज्ञानस्वरूप को अपनाया, इस ज्ञान को ही अपनी सारी दुनिया माना, इस ज्ञान को ही अपना सर्वस्व समझा। जिस ज्ञान में भय नहीं, जिस ज्ञान में अरक्षा नहीं, जिसका कभी मरण नहीं, ऐसे ज्ञानस्वरूप को जिसने अपनाया वह पुरुष ज्ञानी है, निर्भय है, सम्यग्दृष्टि है, मोक्षमार्ग का पथिक है, और एक इस ज्ञानस्वरूप को छोड़कर बाहर में जब उपयोग लगता है और कुछ से कुछ सम्पर्क करता है, उपयोग जोड़ता है तो वहां ज्ञान का तिरस्कार हुआ ना ? जहां इस प्रभु का तिरस्कार हुआ, वहां तो बहुत विडम्बना आना प्राकृतिक ही बात है। मैं ज्ञान ज्ञानस्वरूप हूं, मेरा कर्तव्य केवल एक यह ही है कि यह मैं ज्ञान ज्ञानरूप से ही परिणमूं।

दुर्लभ नरभव की जिम्मेदारी निभाने का स्मरण—ज्ञानरूप परिणमन के कर्तव्य की बात सामने रखकर अब थोड़ा अपनी परिस्थितिपर विचार करें। अनादिकाल से भ्रमण करते-करते आज यह दुर्लभ मनुष्यजन्म पाया, अगर यह विषय और कषायों में लगा दिया, चाहे वे कषायें धर्म के नामपर ही क्यों न हों, तो जीवन बेकार समझिये। अपना जो वास्तविक उद्देश्य है उससे च्युत हो गए तो यह मानवजीवन पाना वैसे ही बेकार रहेगा, जैसे कि बेकार अनंत भव मैंने खोया। इस भव में बहुत बड़ी जिम्मेदारी है और इस जिम्मेदारी को हम दो वातावरणों में निभा सकेंगे—एक तो प्रभुभक्ति और दूसरा स्वभाव की उपासना। प्रभुभक्ति में जहां प्रभु के गुणों का स्मरण हुआ, कैसा स्वच्छ ज्ञान, जहां रागद्वेष की तरग नहीं, जहां कर्म का आक्रमण नहीं, जहां कर्म अनुभाग नहीं, विशुद्ध केवलज्ञान है। केवलज्ञान इसका नाम है कि जो केवल मात्र सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान रह गया, उस ज्ञान के साथ कोई दोष नहीं है, कोई रंग नहीं चल रहा, विशुद्ध ज्ञान, जो ज्ञान ज्ञानरूप परिणम कर तीन लोक तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को स्पष्ट जान रहा है, ऐसा प्रभु के गुणों का स्मरण होता। तो आखिर यही ज्ञान तो उन गुणों को जान रहा है ना। तो जो ज्ञान उस शुद्ध ज्ञान को जान रहा है तो ज्ञान में शुद्ध ज्ञान ही तो आया। मेरा ज्ञान और वह शुद्ध ज्ञान ज्ञेय ज्ञायक होने के कारण यह भी शुद्ध ज्ञानरूप ही बर्तने लगता है, इसलिए मेरे ज्ञान में विशुद्ध ज्ञानस्वरूप

आया, इससे मेरी रक्षा है। मेरे ज्ञान में अगर अशुद्ध बात आये तो वही मेरी अरक्षा है। कभी भी किसी की निन्दा के परिणाम न जगें, किसी से घृणा के परिणाम न जगें। सर्व जीव एक समान हैं। सर्व जीवों का स्वरूप वही है जो कि मेरा है, जो प्रभु का है। यह एक बहुत बड़ी रक्षा है अपनी जो स्वप्न में भी किसी की निन्दा के भाव न जगें। किसी से ग्लानि के भाव न जगें, अगर कोई अज्ञ है अथवा कोई विपरीत मार्ग में है, कषायों में लग रहा है तो उसके भी ज्ञाताद्रष्टा बन जावो, उसे भी समझो कि यह कर्मलीला है। परमार्थ से अन्तर में देखो तो यह जीव अपराधी नहीं, यह जीव स्वभावतः ज्ञानस्वरूप है, ऐसा निर्णय बनावें, और देखो अपने भले के लिए पहले इन कषायों का बलिदान करना होगा, आत्महित तब ही हो सकेगा जब कि बाहर के सारे विकल्पों से मुख मोड़ लें और अपने में ऐसा साहस जगे कि बाहर यदि सारा जगत निन्दा कर रहा है, सारा जगत भी मान लो हमसे अभिमुख हो गया, ऐसे वातावरण में भी यह ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञान में ही मग्न रहे, ज्ञान में ही परिणमें, यह तो मेरा बहुत बड़ा श्रृंगार है कि चारों ओर तो निन्दा का वातावरण, चारों ओर तो प्रतिकूलता का वातावरण और यह मैं आत्मप्रभु अपने आपके स्वरूप में मग्न हो रहा होऊं तो यह तो मेरा श्रृंगार है। यह तो मेरा एक बहुत बड़ा सौभाग्य है जो कि ज्ञान अपने ज्ञान में ही मग्न होवे। जगत में किसी का क्या विकल्प ?

प्रशंसा निन्दा के विकल्प तजकर सहजसिद्ध अन्तस्तत्त्व का सत्य आग्रह का भाव—मनुष्य को सबसे बड़ी बाधा है तो एक प्रशंसा निन्दा के लगाव की बाधा है। प्रशंसा हो रही तो इसमें यह राग करता है, निन्दा हो रही तो उसमें यह द्वेष करता है। मगर मेरे हित के लिए तो निन्दा का विकल्प जैसे बाधक है। सारा जहान प्रशंसा करे और मैं भीतर प्रशंसा योग्य नहीं अर्थात् मैं भीतर पवित्र नहीं, मैं अपने इस ज्ञान में इस ज्ञानदेवता की उपासना कर सकने योग्य नहीं तो उस प्रशंसा का क्या उठता है ? उससे मेरा क्या सुधार ! सारा जहान भी निन्दा करे तो आखिर उन । परिणमन उन ही तक तो है, उनसे मेरे में कुछ प्रवेश तो नहीं होता, किसी वचन का प्रवेश नहीं, अणु का प्रवेश नहीं, किसी प्रभाव का प्रवेश नहीं। यह मैं तो अपने में अपने बड़े दृढ़ ज्ञानदुर्ग को लिए हुए हूं। इसकी उपासना करें। लोग कहते हैं कि दुर्गादेवी को प्रसन्न करलो तो सब काम सिद्ध हो जायगा। जो मिटने की चीज है वह मिट जायगी, जो आबादी की बात है वह आबाद हो जायगी। अरे वह दुर्गा कहां बाहर देखते हो ? अरे दुर्गा नाम है ज्ञानानुभूति का, स्वानुभूति का, क्योंकि दुर्गा का अर्थ है दुःखेन गम्यते, प्राप्यते सा दुर्गा। जो बड़ी कठिनाई मे पायी जा सके उसका नाम है दुर्गा। जगत में अनेक विभूतियां अनेक बार पायी जा सकती हैं। पायी हैं मगर यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने सहज इस ज्ञानस्वरूप को पा ले, ज्ञान में इस ज्ञान का अनुभव करले, जानने वाला भी ज्ञान, जानने में आया हुआ भी ज्ञान और इस ज्ञान ज्ञेय का इस निज ज्ञान ज्ञेय का इतना एकत्व बने, इतना अन्तः सम्पर्क बने कि कुछ ख्याल में ही न आये ऐसी परिणति, यह है कठिन, यह नहीं मिली इस जीव को, इसके लिए लौकिक बाहरी बातों का विकल्प तक छोड़ दें। प्रभु आचार्य संतों ने हम आपपर दया करके कैसा-कैसा अपना अनुभव लिखा और उस अनुभव में पहुंचने के लिए कितना ज्ञान दिया जो ज्ञान प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग आदि अनेक प्रकारों से बताया गया है, वह एक इस निज अंतस्तत्त्व की पहिचान के लिए है। उनका उपयोग बनायें, प्रतीति बनायें। मैं ज्ञान ज्ञानस्वरूप हूं। मुझको यही कर्तव्य करना है कि यह मैं ज्ञानरूप से ही परिणमा करुं, किसी परद्रव्य की भलाई बुराई, सुख दुःख विकल्प, यह मेरा, यह पराया, किसी पक्ष में यह उपयोग न पहुंचे और यह उपयोग निष्पक्ष है, किसी के आग्रह में न जाय, क्योंकि दूसरा मददगार नहीं है इस जीव का। मेरा मददगार स्वयं अन्तःप्रभु है और उसकी पहिचान हम ही करेंगे, उसकी उपासना हम ही करते हैं। तो हम अपने आपके इस सहज परमात्मतत्त्व की उपासना करें और अकर्तव्य को छोड़ दें।

चैतन्य का संचेतन न कर सकने का दुष्परिणाम—यदि न चेत सके सुअवसर में इस भव में और

अपने इस ज्ञानरूप परिणमन के कर्तव्य को न निभा सके और परद्रव्य में रागद्वेष पक्ष आग्रह करके यह जीवन खो दिया और उसके फल में यदि कीड़ा मकौड़ा पेड़ पौधे बन गए, आखिर इस भव के बाद भव तो कोई मिलेगा ही, अगर खोटा भव मिल गया, पेड़ पौधे हो गए तो क्या स्थिति होगी कि इन खड़े पेड़ पौधों को देखकर समझ लो। क्या जानन है, क्या ज्ञान है, क्या कर सकते हैं, क्या स्थिति है ? आज तो कुछ बल पाया, कुछ ज्ञान पाया, कुछ पुण्य पाया तो स्वच्छन्द बने फिर रहे हैं और इस स्वच्छन्दता के फल में यदि यह खोटी गति मिल गई तो फिर बस रुलते रहे संसार में। अरे काम ऐसा करें कि इस भव के बाद वह भव मिले कि जिसमें धर्म का वातावरण हो, धर्मात्मा जनों का संग हो, धर्म के लिए उमंग हो, ऐसा सत्संग हो, ऐसी बात मिले और वहां इस निर्विकल्प अंतस्तत्त्व की साधना बना लें और निकटकाल में ही इस शरीर से मुक्ति पायें, कर्मों से मुक्ति पायें और इस संसार के समस्त झंझटों से मुक्ति पायें, ऐसा केवल बन जायें तो इसमें अपनी बुद्धिमानी है। ऐसा काम हम आप सब इन विषय कषायों को दूर करके खुद में कर सकते हैं। जितना बने उतना करें, जो रह जायगा सो आगे हो जायगा। उसका सिलसिला तो लगायें, उसका प्रयोग तो करें, मनन करें, भावना करें कि यह मैं ज्ञान ज्ञानरूप ही हूं। ज्ञानवृत्ति होती है, पदार्थ के स्वभाव से ज्ञान परिणमता रहता है। यह किसी के आधीन नहीं, यह जानता है अपने स्वभाव के कारण। ऐसा यह मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा अगर ज्ञातादृष्टा रहने का परिणाम बना सका तो जो कुछ हमको संग मिला, जैनशासन, मनुष्य-जन्म, धर्मात्मावों का सत्संग, ये सब समागम मिले, इनका सदुपयोग होता है, और ऐसा न कर सके और हो गई दुर्गति तो यह इस जीव की कितनी बड़ी विडम्बना है, और फिर कीड़ा मकोड़ा आदिक कुछ भी गतियों में गए तो यहां के मिले हुए समागम फिर इसके लिए कुछ रहेंगे क्या ? आज तो जो कुछ मिला है उसमें आसक्त हैं और मरकर जहां गए वहां कुछ रहेगा क्या इसके साथ ? मगर धर्म की, ज्ञान की उपासना जितनी बन सकेगी उसका संस्कार साथ जायगा और इसके बल से वहां शान्ति मिल सकेगी, पर यहां जो चीज मिली है उसके सम्बंध से आगे शान्ति मिले यह बात बिल्कुल असम्भव है, फिर क्यों इस मायाजाल की आसक्ति में पाप लादा जा रहा है, क्यों अपने भाव इस अंतस्तत्त्व की उपासना को तजकर बाह्य पदार्थों की उपासना में लगाया जा रहा है ? हे उपयोग हट वहां से। हे उपयोग हट यहां के परभावों से, अपने अन्तर में आवो। देखो हमको हटाव करना है अपने भीतर के राग से। राग से वैराग्य बनावें याने राग से विरक्त होवें। बाह्य पदार्थों से विरक्त होना बन न सकेगा जब तक कि अपने राग-परिणाम से हम विरक्त न हों। यहां उपयोग में जो कर्मानुभाग का ऊधम चल रहा है, जो प्रतिबिम्ब प्रतिफलन चल रहा है, जिसको अपनाकर मैं व्यक्त विकल्प में आ गया हूं, जब तक यहां के ऊधम से हमको वैराग्य न जगे, इससे हटाव न बने, तब तक बाहरी पदार्थों से हटाव बनना कठिन है क्योंकि बाहरी पदार्थों के हटाव तो बहुत से लोग कर डालते हैं। जैसे घर में लड़ाई हुई अथवा बहुत बड़ा मनमुटाव हो गया तो लोग उससे भी राग छोड़ देते हैं, मित्रता छोड़ देते हैं, तो ऐसा हटाव तो काम का नहीं, जो रुला करके, दुःखी होकर कोई पथ न चलने से हटाव हो गया परपदार्थ से तो वह हटाव नहीं कहलाता। उसका मुख्य आधार लगाव है, लगाव के कारण हटाव किया गया है, पर अपने आपमें जो ऊधम चल रहा है, विडम्बना चल रही है, विकल्प चल रहा है, रागद्वेष परिणाम उठते हैं, इन परिणामों से विरक्त होवें।

परभाव में अपना नाता न जोड़कर स्व में ही तृप्त होने का संदेश—मैं ज्ञानस्वरूप विशुद्ध ज्ञान स्वच्छ परिणति वाला, ऐसी शक्ति रखने वाला हूं, इस मुझ में क्यों ये रागद्वेष आये ? इन रागद्वेषों से मैं हटता हूं। देखो भाई रागद्वेष से हटने के लिए निमित्तनैमित्तिक भाव का परिचय बहुत सहयोगी है, यह रागभाव परभाव है, नैमित्तिक है। समयसार में भी स्पष्ट यही उपाय बताया कि इसे जानो कि ये पुद्गल कर्म निष्पन्न हैं सव्वेभाव ए सव्वे भावा पुग्गलदव्वकम्मणिप्पण्णा। ये सब पुद्गल कर्म से निष्पन्न हैं अर्थात् पुद्गल कर्म में मूल में यह क्रोध, मान

माया, लोभ आदिकरूप परिणति बनी है, पर कर्म नहीं चेत रहा उनको, क्योंकि अचेतन हैं कर्म और उनकी झलक इस उपयोग में आयी है। उपयोग उसे चेत डालें, उसे अपना डालें. यह विडम्बना इस उपयोग ने बनाया है। यहां से विरक्त हों, यहां का राग छोड़ें, मुझे इस रागभाव से प्रीति नहीं करनी है। मुझे तो निज सहज ज्ञानस्वभाव में रति करना है। यहां से हटें, बाहर से विकल्प छोड़ें, न हटने की बात कहां, न लगने की बात कहां, न तू बाहर में लगा हुआ है और न बाहर से तुझे हटने की आवश्यकता है, लगा हो तब तो हटे, लगा ही नहीं तू बाहर में, लग रहा तू अपने अन्दर में। जो पौद्गलिक कर्म की प्रतिछाया है, जो परिचय है, जो विकल्प उठ रहा है तू उसमें जुड़ गया है, तु उस विकल्प को असार जान, परभाव जान, नैमित्तिक जान, औपाधिक समझ। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि कोई पदार्थ विकृत बनता है तो वहां परसंग ही निमित्त होता हैं, उसको निमित्त मात्र करके यह उपादन स्वयं अपनी परिणति से विकृत बन जाता है, उपादान में यह कला इसी प्रकार आनीं है, यह परभाव है, असार है, इससे तू अपना नाता मत जोड़। तू अपना सम्बंध अपने ज्ञानस्वरूप से जोड़। उपयोग यदि इस तरह अपने को स्वीकार कर लेता है तो उसको संसार से छुटकारा पाने का मार्ग मिल जाता है।

परमार्थ प्रियतम की सुध क्षणों की सफलता—हे उपयोग ! अपने प्रियतम की सुध ले। तेरा प्रियतम है यह चैतन्यस्वरूप। कोई आपत्ति आयी, मानो डाकू आ गए धन हड़पने के लिए तो आप खुशी से भीं धन दे डालते हैं, यद्यपि वह खुशी नहीं है जिस अन्त: प्रसन्नता से आप दें विवश होकर, खुशी इस बात की है कि मेरे प्राण बच जायेंगे, इस आशा से आप उसे धन दे डालते हैं। अच्छा घर कुटुम्ब कहीं ऐसा फंस गया कि जहां सबकी जान जा रही हो वहां आप अपनी जान बचाने की सोचते हैं। अच्छा तो धन से प्यारा कुटुम्ब से प्यारी जान और जान से प्यारा ज्ञान। तब तो ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञान में आता है और ठीक समझ लेता है कि ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। तो उस ज्ञान की उपासना में ही अपनी धुन रखता है और ऐसी धुन के साथ मरण हो तो वह मरण नहीं। कहां है मरण ? जब देह में विकल्प हो तो मरण कहलायगा, जब शरीर पर दृष्टि हो तो मरण है वह कि हाय अब मर गया मैं। मरा कहां ? अगर कोई पुरुष एक पुराने घर को छोड़कर नये घर में जाकर बैठ जाय तो क्या वह पुरुष मर गया ? ऐसे ही यह ज्ञानस्वरूप आत्मा एक जीर्ण शरीर को तजकर किसी नवीन शरीर में चला गया तो ज्ञानस्वरूप आत्मा क्या मर गया ? यों भी नहीं मरा और देह में दृष्टि नहीं है तो वह व्यवहार में भी नहीं मरा, अपनी पर्याय में भी नहीं मरा। वह तो अपनी ज्ञानपर्याय में अपने ज्ञान को लिए हुए है। देखो जब किसी बड़े अफसर का तबादला होता है तो उसके लिए सरकार की ओर से कितनी सुविधा रहती है ? रेलगाड़ी का एक छोटा डिब्बा सामान रखने के लिए, एक डिब्बा बैठने के लिए रिजर्व रहता है, नौकर-चाकर सब सामान रख रहे हैं, जहां जायगा वहां भी नौकर-चाकर सामान रखने वाले पहले से हाजिर हैं, उसका स्वागत करने के लिए पहले से पब्लिक उमड़ी हुई रहेगी। तो ऐसी सुविधाओं वाले अफसर को तबादला में कोई विषाद है क्या ? उसको तो इतना करना है कि चार कदम चलकर उस डिब्बे में बैठ जाना है और चार कदम उतरकर चला जाना है, उसे कोई असुविधा नहीं है। क्यों असुविधा नहीं ? वह जानता है कि मेरा सारा सामान एक एक चीज चूल्हा चक्की सब कुछ मेरे साथ जा रहा है, यहां मेरा कुछ नहीं छूट रहा और मैं बड़ी सुगमता से जा रहा हूं, और जहां जाऊंगा वहां भी बड़ी सुगमता के साथ कदम रखूंगा। उसे कोई दिक्कत है क्या तबादले में ? और कोई छोटा आदमी का जैसे किसी क्लर्क का जब तबादला होता है तो उसको कितनी दिक्कत पड़ती है उस तबादले में, कैसे सामान दूसरी जगह पहुंचे, किराया ही काफी लग जायगा, फिर पता नहीं कहां कैसी जगह ठहरने को मिलेगी, पता नहीं बच्चों के पढ़ने लिखने का कैसा क्या ढंग बनेगा, यों अनेक चिन्तायें उस क्लर्क को होती हैं। तो भाई यही फर्क ज्ञानी और अज्ञानी में है। अज्ञानी भी मरता, ज्ञानी भी मरता, मगर ज्ञानी को बड़े अफसर की भांति जरा भी विकल्प नहीं होता। वह जानता है कि मेरा सर्वस्व

तो मेरा ज्ञानस्वरूप है। उसे मैं अपने साथ लिए जा रहा हूं ? वह कहां मेरे से छूट रहा है ? ऐसी प्रतीति रखने वाले ज्ञानी अफसर को क्या तकलीफ है मरण में ? कोई कष्ट नहीं, और अज्ञानी सोचता है कि हाय मैं मर रहा हूं, मेरा घर छूटा जा रहा है, मेरा कुटुम्ब छूटा जा रहा है, मैंने यहां बहुत अपना प्रताप बढ़ाया, यह सब छूट रहा है, ऐसा सोचकर दु:खी होता, और यह भी सोचता कि अब आगे क्या होगा, कौन सहाय होगा, कैसे क्या मिलेगा ? यों सोच सोचकर दु:खी होता है, और ज्ञानी पुरुष को कोई क्लेश नहीं, क्योंकि उसकी समझ में है कि जो मेरा सर्वस्व है वह मेरे साथ है, वहां भी साथ है। वहां गरीब नहीं। मैं अपने आपमें समृद्ध हूं, ऐसा एक अपने स्वरूप सर्वस्व को अपनाने वाला ज्ञानी अपने आपसे कह रहा है कि हे प्रियतम ! चेत। थोड़ा कर्मविपाकवश जो कुछ बाहर जाता है सो अब वहां से भी हट, अपने में आ। अपने अन्दर में अपने ज्ञानस्वरूप प्रभु के दर्शन कर। मैं ज्ञानमात्र हूं, अगर ज्ञान में यही समाया हो तो वह समृद्ध है और ज्ञान में अपना ज्ञानस्वरूप न समाया हो, किसी भी परद्रव्य का सम्पर्क रख रहा हो, आसक्त बन रहा हो, विकल्प करता हो तब ही तो बताया गया है कि तू अगर अपने ज्ञानस्वरूप में मग्न हो सकता है, तो इससे बढ़कर कुछ नहीं है और नहीं हो सकता है तो तू व्यवहारधर्म में रहकर अपने को इस शुद्धोपयोग का पात्र बना। यह ही तो है व्यवहारधर्म का महत्त्व कि तू गड़बड़ा न जायगा, अटपट न बन, व्यसन में, पाप में मत लग, उनका परित्याग कर। यह ही व्रत, यह ही नियम, यह ही संयम, यह ही तप, इसमें रह और अपने को ऐसा पात्र बनाये रख कि जब चाहे तू अपने आपमें बसे हुए उस ज्ञानप्रभु के दर्शन कर सके। यह ज्ञानप्रकाश दिख रहा है ना, एक ज्ञान झलक, यह ज्ञानपुञ्ज, अहा यह ज्ञान ज्ञानरूप से परिणमता हुआ कितना आनन्द का विलास पा रहा है। कितना पवित्र अपना विलास कर रहा है ? इसको देखकर ज्ञानी प्रसन्न होता, अहा, बस यही स्थिति मेरे को हो, इसे ही स्वीकार करता है, ओह ऐसा ही शुद्ध चैतन्यमात्र मैं हूं, यह उसका एक आन्तरिक निर्णय है जिससे कि वह कभी भी चिगना नहीं चाहता।

।। सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन षष्ठम भाग समाप्त ।।

सप्तम भाग

बाहर में मार्शल लॉ जारी है, किसका मुंह ताकते हो, किससे क्या चाहते हो ? यह तो मोहान्धों की नगरी है। बाहर के तो ये सभी देहधारी विडम्बना में पड़े हैं, बाहर से तेरे को कुछ नहीं मिलना है, और फिर इस जीवन का कभी भी नाश हो सकता है। यदि तू पहिले ही मर गया होता, तो यहां का तेरे लिये क्या था ? तू किसी भी तरह समझ ले, बाहर में तेरा कुछ भी नहीं है, सारे ख्याल एकदम छोड़, सच्चा आराम कर। आराम करने में कठिनाई जरा भी नहीं है। आरामधाम तो तू स्वयं ही है, अंतर में निहार•• कृतार्थ • भूतार्थ•••सत्यार्थ••• यह चैतन्यचमत्कार••••शाश्वत अन्तःप्रकाशमान•••यही है आरामधाम •• अहा,•••ॐ•••ॐ•• ॐ•• शुद्धं चिदस्मि।

आत्माराम से बाहर को दृष्टि में उपद्रवों की घोरता—जब किसी राज्य में या नगर में अशान्त वातावरण हो जाता है तो शासन की ओर से कुछ विशेष नियंत्रण हुआ करता है और उन स्थितियों में लोगों को अपने आपके प्राणोंके चले जानेका भय रहता है। यह तो है एक ऊपरकी स्थिति। जैसे कि जब नगरके लोग उद्दण्ड हो जाते, उत्पात मचाने लगाते तो छोटा नियंत्रण तो है, मानो जैसे १४४ वीं धारा, ४-५ से ज्यादा लोग मिलकर न जायें, लाठी लेकर न चलें, कोई उत्पातकारक लक्षण न मिलें और अशान्त वातावरण हो तो लगा देते हैं कर्फ्यू, सड़क में कोई घूमे नहीं, घूमता है तो गिरफ्तार होगा, और अधिक अशान्त वातावरण होता है लग जाता है मार्शल लॉ, जिसका अर्थ यह है कि जो दिखे उसे गोली से उड़ा दो, खिड़की से कोई बाहर झांके तो उसे भी गोली से मार दो। अब जरा अपने आपके भीतर की बात देखिये याने इतना अशान्त वातावरण है संसार का कि यह जीव यह उपयोग अपने घर में याने अपने प्रदेशों में अपने स्वरूप में भीतर रहे तब तो ठीक है, लेकिन यह जीव इन खिड़कियों से बाहर भी झांके तो उसे बरबादी की ही बात मिलती है—आकुलता, अशांति, अकल्याण। तो इतना अशान्त वातावरण है संसार का। सो अनुभव से देख लो। जब मैं अपने आपके घर में न ठहरकर कुछ भी इन ५ इन्द्रिय और एक मन—इन ६ खिड़कियों से तकता हूं बाहर तो बस वही उपद्रव मिलता है। कितना मार्शल लॉ चालू है चारों ओर तुम अपने घर में हीं बैठे रहो, अगर जरा भी मुख निकाला इन खिड़कियों से जरा भी बाहर तका उपयोग द्वारा तो वहां अशान्ति, संक्लेश, विडम्बना, बन्धन, संसारभ्रमण, ये सारे उपद्रव रहते हैं।

अन्तर्दृष्टि के प्रकाश में उपद्रव को मन्दता—कोई ज्ञानी पुरुष जब एक अपने आपके स्वरूप का अनुभव कर लेता है और उसका फिर उपयोग या चित्त बिलकुल पलट जाता है तो उसको दूर करने में कहीं भी रमण करने की या कुछ मौज करने की मन में वाञ्छा नहीं रहती क्योंकि जान गया वह सब कुछ कि बाहर कोई भी वस्तु मौज के लायक नहीं, बल्कि जो लोग कुछ मौज मानते हैं उनको उससे कई गुना कष्ट भोगना पड़ता है कुछ काल बाद, क्यों कि बहुत मौज पाया ना। और वह मौज मिला परवस्तु के विकल्प से और परवस्तु सदा साथ रह सकती नहीं। वियोग उसका अवश्य होगा। उसका परिणाम परिणमन अपने आधीन नहीं। प्रतिकूल परिणमन है तो उस समय वियोग के कारण इस जीव को बहुत संक्लेश करना पड़ता है। तो ऐसे समय में ज्ञानी जीव भी कभी कर्मविपाक से प्रेरित होकर बाहर चित्त तो देता है मगर उनको मार्शलला जैसी अशान्त घटना नहीं बनती। थोड़ा कभी शुभोपयोग में रहता, कभी अशुभोपयोग में रहता, क्योंकि व्रत नहीं लिया ना, त्याग कुछ नहीं किया, नियम कुछ है नहीं, वासनायें सब लगी हैं, एक ज्ञानधारा जगी है तो एक ऐसी स्थिति आती है जो एक मध्यम दर्जे की आपत्तिकारी घटना बनती है और संयमी जीव को यों समझो कि १४४ वीं धारा जैसी अशान्त स्थिति है। उसे मार्शलला या कर्फ्यू जैसी बात नहीं है, क्योंकि उसका अपना मन संयम में है, अपने मन को शान्त रखता है। अपने में धैर्य बसाये है तो बाहर घूमना होता तो शुभोपयोग के स्थान में ही होता, तो यों शुभोपयोग की साधना में रहता हुआ भी शुभो-

पयोग को अन्दर से ज्ञानी नहीं चाहता। रहना पड़ता है, रहे बिना गुजारा नहीं, मगर भीतर यही वाञ्छा है कि सर्व राग छूटकर उसके अकषायभाव की वृत्ति बने। तो यों अपने को ऐसा गुप्त रखो, ऐसा ध्यान में लावो कि तू बाहर कहीं मत जा।

अनात्मतत्त्व में उपयोग न भ्रमाने की सम्मति—बाहर उपयोग लगाया, देखा तो यहां संकट है, मार्शल्ला जारी है। यहां कोई एक छूट जैसी बात नहीं है। जो उपयोग बाहर की चीजों में फंसायेगा या आसक्त होगा, परद्रव्यों को अपना सर्वस्व मानेगा उसके कर्मबन्धन है, संक्लेश है, आकुलता है, अनेक विडम्बनायें हैं। हां तो फिर सोचो अपने आपके अन्दर बैठ कर विचार करो, बाहर तुम कहां मुख तकते हो, किसको देखना चाहते, किसका सम्पर्क बनाना चाहते ? यह तो मोहांध प्राणियों की नगरी है। यहां कहां क्या चाहिए ? जैसे मार्शल्ला जैसे नियंत्रण में बाहर ढूकना भी मना है ऐसे ही अशान्त असार समागम के बीच अपने आपके बाहर जरा भी तकना मना है, थोड़ा भी तका तो वहां घात है, बरबादी है। देखो इतनी सब कुछ समझ होनेपर भी छूटता तो नहीं है बाहर का तकना। बाहर भी उपयोग जाता है, लेकिन जहां यह बात समझ में आ जाती है कि भाई मार्शल्ला जारी है, वह पुरुष बाहर तकेगा तो सावधान होकर ही तो तकेगा। धीरे-धीरे तकेगा निरखकर तकेगा। कहीं कोई बन्दूक वाला तो नहीं फिर रहा यहां ? सावधानी तो आयगी। ऐसे ही ज्ञान हो जाय, सम्यक्त्व प्रकट हो जाय, फिर भी अव्रत दशा है, कर्म-विपाक की प्रेरणा है, आक्रान्त हो रहा है। तो सावधानीपूर्वक तो बाहर ढूकेगा, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव की तरह आसक्तिपूर्वक बाहर न ढूकेगा।

उदाहरणपूर्वक ज्ञानी के शुभोपयोग से भी निवृत्त होने की भावना का दिग्दर्शन—कोई अज्ञानी रोगी हो और उसे औषधि मीठी पिलाई जाय और बड़ा खुश हो और ऐसा सोचे कि ऐसी औषधि तो मुझे जीवनभर मिले तो वह अज्ञानी रोगी है। यदि ज्ञानी रोगी है, समझदार है, विवेकी है तो वह औषधि तो पियेगा, मगर यह सोचकर पियेगा कि यह औषधि जल्दी छूट जाय इसलिए मैं औषधि को पीता हूं। औषधि को पीते रहने के लिए नहीं पी रहा हूं किन्तु इसलिए पीता हूं कि यह औषधि पीना मेरा छूट जाय ऐसा भाव रखते हुए औषधि पीता है। ज्ञानी के भोग में, अज्ञानी के भोग में अभिप्राय के कारण महान अन्तर हो जाता है। अज्ञानी तो खाने का, सूंघने का, देखने का, सुनने का आदि सभी इन्द्रिय भोग आसक्ति पूर्वक भोगता है, वह उन भोगों के भोगने में जरा भी भय, शंका नहीं रखता। जैसे सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञान की आराधना में शंका नहीं रखता तो अज्ञानी जीव बाहर की प्रीति में शंका नहीं रखता। निःशंक होता हुआ बाहर में लगा रहता है यह तो है अज्ञानी की पद्धति और छूटे ? वह निवृत्ति की भावना रखता हुआ भोगता है।

सभी पदों में आत्महित के लिये अनात्मतत्त्व में उपयोग न लगाने का उपदेश—तो उक्त घटनाओं से समझ लीजिए कि अज्ञानी का तो बड़ा अशान्त वातावरण है और सराग ज्ञानी का साधारण अशान्त वातावरण है, लेकिन आचार्य संतों का सभी के लिए उपदेश है कि तू बाहर कुछ रुचि मत कर। तू बाहर क्या देखना चाहता ? तू बाहर जिससे नेहा लगाना चाहता है—घर मे हो, मित्र में हो, अपनी कषाय के अनुकूल हो, पक्ष में हो, जिनसे तू अपना नाता लगाना चाहता है वे खुद मोह रागके रोगी हैं, उनसे तू क्या आशा रखता है ? वे अपनी अपनी विडम्बना में पड़े हुए हैं। वे अपने ही भाव को नहीं सम्हाल सकते हैं। तो जो खुद असावधान हैं, असमाधान हैं, असन्तुष्ट हैं, ऐसे प्राणियों से तू क्या चाहता है ? क्या आशा लगाये फिरता है ? तू अपने धाम में बस, बाहर मत ढूंढ़। देखो जब बाह्य छूटकर एक क्षण भर को भी निर्विकल्प स्थिति होती है तो वहां सत्य सहज आनन्द का अनुभव होता है। तब जीव समझ पाता है कि अहो मुझ में तो ऐसे परमात्मस्वरूप की समृद्धि पड़ी हुई है। जब तक अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव नहीं होता तब तक यह बाह्य विषयों से नाना आशायें रखता है, उनसे ही सुख

मानता है, लेकिन बाहर से किसी को कभी कुछ नहीं मिलता। तेरे को मिलेगा तो तेरे ही स्वरूप में मिलेगा, फिर भी कुछ स्थितियां ऐसी होती हैं कि बाहर भी अशान्ति न रहे तो यह भीतर भी अपने आपके परमात्मस्वरूप के अनुभव का पात्र बनता है, इसलिए श्रद्धा यह रखो कि मेरे को जो कुछ लाभ मिलेगा वह मेरे में से ही मिलेगा, दूसरे से न मिलेगा। लाभ क्या, शुद्ध आनन्द, सत्य आनन्द। वही लक्ष्य रहता है। तो शुद्ध सत्य सहज आनन्द का लाभ मेरे को मिलेगा और वह मिलेगा अपने को शान्त निस्तरंग बनाये रहने में। यह बात तब ही बनती जब हम खुद खुद में बैठ जायें।

अन्तस्तत्व की उपासना करके शेष जीवन को सफल करने का अनुरोध—अच्छा एक और मोटी दृष्टि दो। हम आप अब तक जिन्दा हैं। किसी की ५० वर्ष की उम्र, किसी की ६० वर्ष की, किसी की ७० वर्ष की, अब तक जीवन चल रहा है। हम आखिर जैसे और मनुष्य हैं वैसे ही तो हैं। जो बचपन में गुजर गए ऐसे भी लोग देखे ना। उनमें और मुझ में क्या फर्क है? कोई फर्क की बात है क्या? वह भी संसार की पर्याय में है। कदाचित हम ही खुद गर्भ में मर गए होते शिशु अवस्था में, बचपन में और पहले कभी अगर इस भव को छोड़कर चले गए होते तो मेरे लिए यहां का कुछ था क्या? ऐसे ही समझलो कि मैंने मानो इस भव से पहले कभी भी छूटकर किसी अन्य क्षेत्र में जन्म ले लिया होता तो फिर मेरे लिए यहां का क्या कुछ था? देखो सबसे बड़ा वैभव है, समृद्धि है तो अपने आपको प्रसन्न रखना है। प्रसन्न के मायने मौज नहीं, किन्तु निर्मल रखना, अपने को निर्मल रखना, शुद्ध अभिप्रायवान रखना। यही सबसे बड़ी भारी समृद्धि है, तो यों ही समझलो कि हम आप इस जीवन में चल रहे हैं तो हमारे लिए ये समागम सब यों ही मुफ्त हैं, इनका सदुपयोग तो करें, मगर इनमें आसक्ति मत करें, अथवा वस्तुस्वरूप को समझ लें। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके चतुष्टय से है, अपना ही द्रव्य, अपना ही क्षेत्र, अपना ही काल अपना ही भाव। दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव में कोई कभी मिल नहीं सकता। चाहे कितना ही क्षेत्र सांकर्य हो जाय, पर क्षेत्रसांकर्य अभी भी देखो कितनी सी जगह, आप एक सूई की नोक बराबर भी जगह चुन लें, आकाश में जमीनपर कहीं भी, वहां अनन्त तो जीव हैं, अनन्त पुद्गल अणु हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। एक प्रदेशपर सूई का छेद नहीं पड़ता इसलिए वहां अनगिनते काल हैं। इतने द्रव्य परस्पर में संकरता को प्राप्त हो रहे हैं, फिर भी एक द्रव्य में किसी दूसरे द्रव्य का प्रवेश नहीं है। वस्तुस्वरूप से भी देखो मैं सबसे निराला केवलज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करें और अपने ज्ञानानन्दस्वरूप महल में ठहरें, इन खिड़कियों से बाहर ढूकने की आदत छोड़ दें, कभी ढूकना पड़े, क्योंकि परिस्थिति है ऐसी तो सावधानी करके ढूको, अनासक्त होकर बाहर ढूको, रति मत करो। इस तरह अनासक्ति पूर्वक बाहरी कामों में प्रवृत्त होता हुआ यह ज्ञानी जीव अपने स्वरूप के संभाल की धुन बनाये रहता है और इस तरह यह मोक्षमार्ग का पथिक होकर संसार-संकटों से मुक्त हो जाता है।

आत्मा का अन्तर्विश्राम में सच्चा आराम—बाहर तेरा कहीं कुछ नहीं। तू एकदम बाह्य पदार्थों की आसक्ति का ख्याल छोड़ दे और क्षणभर तो सच्चा आराम कर। देखो आराम और विश्राम बाह्यपदार्थों का ख्याल रखकर विकल्पों की चक्की चला करती है, जो अपने में श्रम किया जाता है, ऐसा श्रम संसार के प्राणी अनादि से अब तक करते चले आये हैं और बाह्य का विकल्प तोड़कर शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने आपको निस्तरंग बनायें उसमें आराम है, ऐसा आराम इस जीव ने अब तक कभी नहीं किया। तो अब परिश्रम को छोड़ दो और सत्य आराम को ग्रहण कर देखो कि आराम करने में जरा भी कठिनाई नहीं है, क्योंकि खुद खुद है, खुद में खुद के उपयोग को स्थिर करना है। कोई पराधीन काम नहीं है जो कठिन मालूम पड़े। अपने आत्मा का सच्चा आराम कठिन काम नहीं है। तू आराम कर, क्योंकि आराम का धाम तो तू स्वयं है। स्वयं में सहज कोई कष्ट नहीं है। अपने में रह, बाहर में

ममता मत कर। फिर कोई परेशानी हो तो बता। इन बाह्यपदार्थों में, इन बाहरी प्राणियों में यह छांट किस आधार पर की है कि यह जीव तो हमारा मित्र है और यह हमारा शत्रु है, यह हमारा कुटुम्बी है, यह गैर है। अरे ऐसी छंटनी करना यह व्यामोह है, यह अज्ञानदशा है। भले ही संसार की परिस्थिति है, घर में रहते हैं तो कुछ से सम्बंध बनता है, कुछ की फिक्र रखता है, इतने पर भी भीतर में तो यह समझें कि जैसे जगत के अन्य जीव मुझसे भिन्न हैं ऐसे ही मेरा कुटुम्ब और मेरे सम्पर्क में रहने वाले ये जीव भी उतने ही अत्यन्त भिन्न हैं। द्वेष में जैसे ज्वाला है ऐसे ही राग में भी ज्वाला है, और यह बाहरी पदार्थों का राग तब छूट सकता है जब अपने आपके अन्दर कर्मोदय में जो रागपरिणमन होता है उस रागपरिणाम का राग छोड़ सके। और भीतर के राग से राग छोड़ना है तो बाहरी पदार्थों का भी राग छूट सकेगा। कहां विवेक करना? कहां भेद जानना, कहां अपना पौरुष करना? वह सब खुद खुद में ही करने की बात है। जो लोग बाहर में पदार्थों का संग्रह विग्रह करके अपने अन्दर निर्णय बनाना चाहते वे सफल नहीं हो पाते। अपना ही निर्णय बनायें, विभावों को छोड़ें, स्वभाव पर दृष्टि दें। इस काम के लिए तो सब धार्मिक उपदेश है।

विभाव की परभावता की समझ द्वारा विभावनिवृत्ति का प्रारंभ—कैसे विभाव छूटें सो समझो? जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने बताया कि ये विभाव सब कर्मनिष्पन्न हैं, वैभाविक हैं, तेरे स्वरूप नहीं हैं। होता तो तेरे में झांकी रूप परिणमन मगर ये विभाव हैं, औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं और तेरे दुःख के लिए हैं। उनका फल दुःख ही है, ऐसा जानकर इन कषायों से विभावों से राग छोड़ें और तेरा स्वरूप जो तुझ में अनादि अनन्त शाश्वत, प्रकाशमान है उसका आदर करें। देखो करने का काम यह ही पड़ा है। विभावों से दृष्टि हटाना, स्वभाव में दृष्टि लगाना, लेकिन कठिन समस्या यह है हम आपके सामने कि जो रात दिन बीत रही है कि हम अपने इस लक्ष्य पर दृढ़ नहीं हो पाते। बाहर उपयोग जाता और कुछ स्थिति ऐसी है कि उपयोग बाहर ले ही जाना पड़ता है, अब खाना पीना और और प्रकार की कमाई, धंधे, आजीविका आदि बहुत सी बातें लगी हैं तो इस स्थिति में कम से कम इतना तो संयम रखें कि व्यसन और पापरूप प्रवृत्ति न बने, मगर व्यसन और पाप में प्रवृत्ति है। उनसे हम हट नहीं सकते हैं तो हम में वह पात्रता नहीं रह सकती कि हम अपने ज्ञानस्वभाव को दृष्टि में ला सकें। अपने एक निजी तत्त्व का लाभ लेना है तो अपना व्यवहार, अपनी प्रवृत्ति ऐसी सुपात्र सुयोग्य बनानी होगी कि जहां पाप और व्यसनों में हमारा सम्पर्क न रहे और अरहंत सिद्ध परमात्मा वीतरागविज्ञान रागद्वेष रहित, ज्ञानविकास वही तो है प्रभु। उसका स्मरण रहे, उससे हमारा एक धर्मप्रसंग का नाता रहे, सम्बन्ध बने, वह ध्यान में रहे।

ज्ञानी का प्रभु से स्वजातीयता का नाता—प्रभु का जो नाता है वह हमारे स्वभाव के नाते का नाता है। मित्र, पुत्रजनों जैसा नाता नहीं है। धार्मिक नाता वह एक हमारे स्वभाव को समझने के लिए दर्पण है। जैसे दर्पण में हम अपना मुख देख लेते ऐसे ही प्रभु के गुणस्मरण के परिणमन के समय हम अपने स्वभाव का दर्शन कर सकते हैं, ऐसे स्वभावदर्शन के प्रयोजन से प्रभु की उपासना की जाती है, न कि जैसे यहां किसी बड़े अफसर से मिन्नत करते हैं जिससे कि कोई लाइसेंस मिले, जैसे उसकी आराधना सी करते हैं, इसी तरह भगवान की आराधना नहीं की जा सकती कि हे भगवन तुम मुझे सुख दो, दुःख दूर करो, एक तुम्हारा ही सहारा है, ऐसी अज्ञानपूर्वक प्रभु की भक्ति न हो। प्रभु की यथार्थ भक्ति उसके ही होती है जिसने अपने स्वभाव की रुचि की है और उस स्वभाव का ही अवलोकन करने के लिए प्रभु का ध्यान करता है, क्योंकि वहां स्वभाव के अनुरूप विकास होगा। ज्ञानी पुरुष एक इस स्वभाव के नाते से ही पंचपरमेष्ठी की भक्ति करते हैं। क्यों गुरु की उपासना करता कि गुरुजन स्वभाव की आराधना में बढ़ते चले जा रहे हैं, तो उनकी मुद्रा देखकर, उनकी बाह्य प्रवृत्ति देखकर भीतर में उनकी ज्ञान उपासना का अनुमान कर यह अपने आपके गुणों में अतिशय प्रकट करता है। बस स्वभाव का ही नाता है जो गुरु की भक्ति की

जाती है। गुरु में आचार्य, उपाध्याय और साधु, तीनों आ गए। स्वभाव का ही आनन्द है और अरहंत भगवान की उपासना की जाती है, वह वीतराग निर्दोष परमात्मतत्त्व है, मुझे यह ही बनना है। संसार के झंझट मेरे को शान्त नहीं कर सकते। मुझे तो यह अरहंत, सिद्ध बनना है। देखो सभी लोग एक अपना संकल्प बना लें कि मेरे को क्या बनना है ? बाहर की बातों को छोड़ दें, उसमें चाहे कुछ भी गुजरे, चाहे खोम्चा फेरकर जीवन गुजरे, उससे कुछ बिगाड़ नहीं और चाहे बड़े आराम से जीवन गुजरे याने बहुत आमदनी पूर्वक जीवन गुजरे तो उससे कोई सुधार बिगाड़ की बात नहीं। अपने में प्रोग्राम बनावें कि मुझ आत्मा को तो केवल बनना है, झंझट में नहीं रहना है। देह के बन्धन में, कर्म के बन्धन में, विभाव के बन्धन में, उसमें मुझे नहीं पड़ना, उससे मुझे छूटना है, केवल मेरे जीवन का यह ध्येय है, ऐसी भावना बनायें तो फलित मार्ग की बात है। अब जब यह संकल्प बन गया, प्रोग्राम हो गया कि मुझे तो वीतराग बनना है। जैसा मैं सहज ज्ञानमात्र हूं ऐसा ही मुझे रहना है। जहां ऐसा संकल्प बन गया तो उसकी सारी प्रवृत्तियों में अन्तर आ जाता है।

आत्मप्रगति विनय की सहयोगिता—देखो जब हम व्यवहार में पड़े हुए हैं, इतना झंझटों में लगे हुए हैं, तो हमारी गति एक नम्रता के बिना, विनय के बिना नहीं हो सकती। एक यह खास गुण है मनुष्य का। जो अपनी प्रगति चाहता तो समझ ले कि विनय से ही तो पात्रता आती है, विनय से ही हम अपने आपको प्रगति में ले जा सकते हैं, क्योंकि विनय में यह बात दिखती है कि जैसे सब वैसे हम, और बल्कि हमसे अधिक ये दूसरे जीव। तो जहां नम्रता होगी अपने गुणाधिक पुरुषों में कोई व्रत में, कोई संयम में, कोई ज्ञान में, कोई विद्वत्ता में, देखो धर्म में अनेक तरह के लोग होते हैं, रहने दो अनेक तरह के। वह तो चलेगा। कोई ज्यादा नहीं जानता तो अपना थोड़ा दर्शन, पूजन, व्रत आदिक में लगा हुआ है, कोई विशेष जानता है तो कुछ अपने स्वाध्याय तत्त्वचर्चा ज्ञान में लगा हुआ है, कोई और विशेष जान गया तो पाप का, परिग्रह का, सर्व का परित्याग करके निर्ग्रन्थ अवस्था में रहकर ज्ञान की आराधना में लगा है। अनेक तरह के भव्यजन हैं, अनेक तरह के भक्त पुरुष हैं। हां उनको हम एक लाठी से नहीं हांक सकते, उत्तरोत्तर उनको प्रगति का उपदेश चाहिए। भाई तुम व्यवहारधर्म में हो, ठीक है, पर थोड़ा और आगे बढ़ो, भीतर का ज्ञान बढ़ाओ और अपने में अपने सहज परमात्मतत्त्व का अनुभव बढ़ावें, उससे तुम्हारा जीवन सफल होगा। बढ़ते जावो, आगे, कैसे बढ़ते जावो कि अपने मन, वचन की प्रवृत्ति जब चल रही है तो इसे संयत रख करके अपने भीतर के ज्ञानविकास में बढ़ते चले जावो। सो बढ़ते चले जा रहे हैं, अरहंत हो गए हैं, फिर अपने आप जब निर्माण होता सिद्ध हो जाता है तो अपने आप जो आराध्य देव, गुरु हैं उनमें स्वभाव के नाते से ही भक्ति जगती है। तो जब हम नम्रता रखकर स्वभाव के नाते से ही उनको परखते हैं तो हमको विकास में मौका मिलता है। हम अपने आपके महल में रहें, बाहर में न ढूकें इन खिड़कियों से क्योंकि यहां बड़ा अशान्त जीवन है, मार्शल्ला जैसा जैसा चल है, एक अशान्त वातावरण है। तुम अपने घर में ही छुपे रहे, घर में अपनेआपको देखते रहें, बाहर अवलोकन मत करें और अपने आनन्दधाम में निज ज्ञानानन्दस्वरूप में बसकर अपने को कृतार्थ बनावें। जो कृतार्थ हैं, भूतार्थ है, ऐसा जो सहज चैतन्यस्वरूप चमत्कार हैं यह है इसका आराम धाम जो मेरे में शाश्वत अन्त:प्रकाशमान है इसे स्वीकार करें। ॐ, ऐसा ही मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। बाहर से हटकर भीतर में आवो, ज्ञान चमत्कार को देखो, यहीं सन्तुष्ट रहो, यही वृत्ति रही तो इसमें हमारा कल्याण है।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन सप्तम भाग समाप्त ॥

अष्टम भाग

हे आत्मन् ! तू अपने ही अपराध से अपने आप विवश होकर अपने आपके प्रतिकूल अपने आपमें विपरिणमन किये जा रहा है। तू चाहता तो शान्ति ही है ना, तो जिस स्थिति में वास्तविक स्थायी पवित्र शान्ति होती है, उस स्थिति की प्राप्ति तो बहुत ही स्वाधीन है, उसके लिये आत्मसन्मुख हो जा, बाहर की सब चीजों को, सब घटनाओं को एकदम भुला दे, उनके ख्याल में तू रगड़ा ही जा रहा है, लाभ रंच नहीं है और देख…यह है तेरा धाम …ज्ञानप्रकाश…इस अपने ज्ञानप्रकाशमय निज के विलास में रत हो जा, संतुष्ट हो जा, तृप्त हो जा, निस्तरंग समा जा। अहा… यह परमशरण…ॐ…ॐ…ॐ… शुद्धं चिदस्मि।

अपने दुःख में अपने अपराध की कारणता—अपने आपके आत्मा को सम्बोधिये—हे आत्मन् ! तू अपने को जब चाहे निरन्तर दुःखी अनुभव करता रहता है, सो यह तो देख कि तू दुःखी किस तरह होता है, क्या दुःख है ? कैसे उत्पन्न होता है, दुःख क्या चीज है ? ज्ञान में कोई विकल्प आया वही दुःख है। इष्ट और अनिष्ट के बारे में कल्पना आये वही दुःख है, क्योंकि जब यह जाना कि यह पदार्थ इष्ट है तब वह राग लगा, यह पदार्थ अनिष्ट है तब उससे विरोध जगा। जहां इन बाह्यपदार्थों के बारे में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना उठती है बस तब से ही दुःख का निर्माण हो जाता है। तो ऐसे दुःख का निवारण करने वाला कोई बाहरी पदार्थ नहीं है, किन्तु तू ही तो अपने आपमें परवस्तु के बारे में ऐसी बुद्धि बनाता है, सो वह बुद्धि तुम्हारे स्वभाव के प्रतिकूल है, याने स्वभाव तो केवल प्रतिभासमात्र है, ज्ञाताद्रष्टा रहने का है। ये बाहरी पदार्थ विवश होकर तेरे ज्ञान में आते हैं। तू उन्हें जानने के लिए, तू उनमें कुछ करने के लिए अपने ज्ञान को क्यों जलाता है ? तू अपने उपयोग को न जला। अपने आप उपयोग में कुछ प्रतिभास हो, ज्ञान हो, बस वह होने दो, इतनी तो हिम्मत कर नहीं पाता बाहरी पदार्थों को जान-जानकर चल चलकर जानता और फंसता है, उनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता है तो यह तेरा अपराध है। तू अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा। कोई बाहरी पदार्थ तुझे दुःखी करने के लिए कमर नहीं कसे हुए है। वह तो अपना उत्पाद व्यय करेगा। बाहरी पदार्थ जो उनके धर्म हैं कि प्रतिक्षण नई पर्याय बनती, पुरानी पर्याय विलीन होती और स्वरूप सदा बना रहता, सो अपने धर्म में सब पदार्थ लगे हुए हैं। तुझको दुःखी करने के लिए कमर कसकर कोई नहीं आया। तू ही बाह्यपदार्थों के विषय में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि करता है और दुःखी होता है, सो अपने ही अपराध से अपने आप ही तू विवश हो जाता है।

परके कर्तृत्व के भाव की अनर्थक्रियाकारिता—कोई कहता है कि मैं क्या करूं ? कच्ची गृहस्थी है, छोटे बच्चे हैं, कैसे उनको भुलाया जाय ? मगर यह पता नहीं है कि छोटे बच्चों का भाग्य तुमसे भी अच्छा होगा, यह ध्यान में नहीं लाते, तब ही तो तुम जैसे जवानों को, बड़ों को बच्चों का नौकर बनकर उनकी सेवा करनी पड़ती है, यह पता नहीं है। अनेक उदाहरण देख लो—जब तक घर में कोई बड़ा जो बच्चों की बड़ी फिक्र रखकर श्रम करता है, कदाचित् गुजर गया तो उन बच्चों का कितना सौभाग्य बढ़ा, ऐसे उदाहरण कई मिलेंगे कि कैसा लोगों ने उनको पूछा, पढ़ाया, ऊंचा उठाया। यदि वह बाप जीवित रहता और उन बच्चों को पढ़ाना चाहता तो उतना न पढ़ा सकता था, ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। मतलब यह है कि यह बुद्धि तू छोड़ कि परपदार्थों की जिम्मेदारी मुझपर है, और मुझको परजीव, परपदार्थ दुःखी करता है, तू ही राग करके विवश बन जाता है, दूसरों के आधीन बन जाता है और फिर अपने स्वभाव के प्रतिकूल अपने आपमें खोटा विकल्प कर करके दुःखी होता है। इससे चाहिए तो शान्ति ही। शान्ति के लिए ही तो कुटुम्ब वैभव इनमें प्रगति, वृद्धि, कमाई इनकी ओर तू अपना श्रम करता है, सो देख शान्ति जिस तरह मिलती है उस तरह चलें तो शान्ति प्राप्त होगी। गृहस्थावस्था में रहकर किसी कर्तव्य

की मनाही नहीं की जा रही, किन्तु भीतर में ज्ञान के सुधार की बात कही जा रही। तन, मन, धन, वचन की चेष्टा तो करो किन्तु जो गृहस्थी में उचित है तो करो, भीतर में वस्तुस्वरूप के अनुकूल सही बोध बने तो तू शान्ति का पात्र रहेगा। यह अज्ञान मत रख, कि मुझको दूसरे ने फंसाया है या मेरी दूसरे पर जिम्मेदारी है या मैं मरुंगा तो ऐसा होगा, ऐसा तू भ्रम मत रख। जगत के पदार्थ हैं, उनका परिणमन उनमें होता है, भले ही यह निमित्तनैमित्तिक भाव है कि कोई पदार्थ विकार रूप परिणमे तो वह अनुकूल निमित्त पाकर परिणमता है, मगर फिर भी वस्तु का धर्म तो है ना उत्पाद व्यय ध्रौव्य का, सो जब संसार चल रहा है तो यह ख्याल छोड़ दें कि मैं दूसरे को पालता पोषता हूं या दूसरे ने मुझे फंसाया।

अपने अज्ञान से अपना फंसाव—एक उदाहरण दृष्टान्त आया करता है राजा जनक का कि राजा जनक बड़े ज्ञानी पुरुष थे। तो एक गृहस्थ पहुंचा अपनी एक समस्या का समाधान पाने को कि हे महाराज! मैं बड़ा दुःखी हूं, मुझको गृहस्थी ने फंसा रखा है। उससे मैं निकल नहीं पाता हूं, कोई उपाय बताओ कि मैं गृहस्थी से निकल सकूं। तो राजा जनक मुख से तो कुछ न बोले किन्तु सामने एक खम्भा खड़ा था उसको अपनी जेंट में भरकर यानी खम्भे के चारों ओर हाथ डालकर, बांधकर बोले—अरे भाई ठहरो, ठहरो, मैं बहुत फंस गया हूं, मुझे इस खम्भे ने पकड़ लिया है, जब यह खम्भा मुझे छोड़े तो मुझे चैन पड़ेगी और मैं तुम्हारे प्रश्न का जवाब दे सकूँगा। तो वह प्रश्नकर्ता कहता है कि महाराज मैं तो आपको बड़ा बुद्धिमान समझकर आपके पास आया था, मगर आप तो बड़े बेवकूफ मालूम होते हैं ··· कैसे ? अरे आपने खुद खम्भे को पकड़ रखा है फिर भी कहते हैं कि खम्भे ने मुझे पकड़ रखा है, तो राजा जनक बोले—बस यही उत्तर तो तेरे लिए है। अरे तूने खुद गृहस्थी को पकड़ रखा है पर कहता है कि गृहस्थी ने मुझे पकड़ रखा है। देखिये पकड़ किसी ने नहीं रखा, पर विकल्प करके उनको अपने उपयोग में लेकर वैसा मान रखा है। अरे तू अपनी बात तो सोच ! तू तो सर्व पदार्थों से निराला ज्ञानमात्र अपने आपको निरख, और अपने को अपना ही जिम्मेदार समझ और वस्तुस्वरूप के निगाह से यह समस्त संकोच बुद्धि छोड़ दें, रागबुद्धि को निकाल दे, यथार्थ समझ। सबका जुदा-जुदा अस्तित्व है। सब जीवों के जुदे-जुदे कर्म हैं। सभी जीव अपने कर्मोदय से सुखी दुःखी होते हैं।

जीव विकार के प्रसंग में होने वाले निमित्तद्वैविध्य के परिचय में उपचरिते निमित्त के परिचय से आत्महितकारक शिक्षा—देखो एक प्रसंग पाकर निमित्त की बात कह रहे हैं। जो ऐसा कथन है कि यह जीव विकार करता है तो उस समय जो सामने होता है उस पर निमित्त का उपचार होता है। वह निमित्त कहलाता है, याने जीव विकार करे तो दूसरा निमित्त कहलाया। इस सम्बंध में आपको एक तथ्य ऐसा विदित होगा कि आपको मोक्षमार्ग की ठीक दिशा मिल जायगी। बात ऐसी है कि यह बात सत्य है और इसका एकान्त हो तो असत्य है, वह किस तरह कि जीव के विकार के प्रसंग में दो प्रकार के निमित्त होते हैं—अंतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्त। ये दो भेद अजीव अजीव के प्रसंग में नहीं हुआ करते। अजीव ओर जीव दोनों में जो उपादान व निमित्त का सम्बंध है वहां एक ही प्रकार का निमित्त है, जिसे कहा अंतरंग निमित्त, वास्तविक निमित्त। किन्तु जीवविभाव के प्रसंग में दो प्रकार के निमित्त हैं—वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त। चाहे अंतरंग निमित्त, बहिरंग निमित्त कहो, चाहे अन्वयव्यतिरेक निमित्त कहो और उपचरित निमित्त कहो, ये विभाव प्रसंग में होते, स्वभाव के लिए नहीं होते, और अजीव अजीव के परिणमन के विषय में भी नहीं होते, किन्तु जीव के विभाव के प्रसंग में निमित्त के दो प्रकार होते हैं—वास्तविक निमित्त और उपचरित निमित्त। वास्तविक निमित्त तो है कर्म की दशा और उपचरित निमित्त हैं ये विषयभूत सब पदार्थ। तो घटना यों घटती है कि पहिले बांधे हुए कर्म थे ना, उनकी स्थिति भी है, उनका उदय काल आता है, इसपर तो जीव का कोई वश नहीं चलता, क्योंकि वे भिन्न द्रव्य हैं, जीव भिन्न द्रव्य हैं, पूर्व कर्म

सत्ता पाकर जब उदय में आते हैं तो उदय के मायने हैं कि इन कर्मों में जो अनुभाग बंध गया था यह भी हजारों वर्ष पहले बंधा था। जिस समय कर्म बंधा था उस समय कर्म का अनुभाग बंध गया था। तो जब अनुभाग खिलता है, मायने कर्म का उदय होता है तो कर्म में कर्म का अनुभाग खिला, कर्म में कर्म का परिणमन हुआ। चूंकि वह एक क्षेत्रावगाह है और उसका निमित्त पाकर उपयोग में प्रतिफलन हुआ तो यहां तक तो यह वास्तविक निमित्त का और उपादान का सम्बंध है। अब उस काल में जब यह ज्ञान का तिरस्कार हो गया कर्मानुभाग का निमित्त पाकर तो यह जीव जो अधीर होकर बाह्य विषयभूत पदार्थों का ख्याल करता है तो ये जो बाहरी विषयभूत पदार्थ हैं ये बहिरंग निमित्त हैं, उपचरित निमित्त हैं, वास्तविक निमित्त नहीं हैं। तो जब इन पदार्थों का जीव आश्रय लेता है तो व्यक्त विकार होता है। तो व्यक्त विकार के लिए यह बात कही जाती है कि जब यह जीव विकार करता है तो बाहरी पदार्थों में निमित्त का उपचार होता है यह बात सही है, क्योंकि बहिरंग पदार्थ का इस विकार के साथ न्वय-व्यतिरेक सम्बंध नहीं है, किन्तु यों समझिये कि जैसे लोग कहते हैं ना कि एक गुहेरा (गोह) होता है, वह किसी मनुष्य को काट लेता है, गुहेरा मूत्र करता है तब मनुष्य मर जाता है, ऐसी एक प्रसिद्धि है, पर वास्तविकता वहां क्या है कि उस गुहेरा की ऐसी प्रकृति होती है कि जब किसी चीज को काट ले, चाहे मनुष्य हो, चाहे पशु हो, चाहे पत्थर हो, चाहे लकड़ी हो, फिर वह मूत्र करे, ऐसी उसकी प्रकृति होती है, उसका कुछ ऐसा ही संस्थान है, तो इसी तरह समझिये कि जब ये विकार व्यक्त होते हैं कर्मोदय का निमित्त पाकर तो उस समय जो सामने आये, जिसका ख्याल बन गया उसी का विकल्प करके यह जीव कषाय जगा रहा, इसलिए यह बात बिल्कुल ठीक है कि ये बाहरी पदार्थ उपचरित निमित्त कहलाते हैं। तो और वास्तविक निमित्त क्या है ? पूर्वबद्ध जो कर्म है उसका जो उदय अथवा उदीरणा काल आया उस समय जो अनुभाग खिला तो अनुभाग उसके कर्म का कर्म में है, जीव में नहीं आया, मगर उसका सन्निधान पाकर जीव में जो प्रतिफलन हुआ है वह प्रतिफलन क्या है, वह जीव के विकार का विपरिणमन है। तो यहां यह बात समझना है कि हम इन विकारों से छूटें तो उसका पुरुषार्थ यही है कि ऐसा ही ज्ञानबल बढ़ायें कि इन उपचरित निमित्तों का आश्रय न करें, इनमें हम उपयोग न जोड़ें तो इन उपचरित निमित्तों में हम उपयोग न जोड़ें, इनको विषय न बनायें, इनका आश्रय न करें तो हमको अवकाश मिलता है कि हम अपने स्वरूप की आराधना करें और उस स्वरूप की आराधना के बल से अव्यक्त विकार का हेतुभूत जो कर्म हैं उनमें संक्रमण, सम्वर निर्जरा ये सब चलते हैं और हमको एक दिशा मिलती है।

जीव विकार के प्रसंग में होने वाले वास्तविक निमित्त के परिचय से प्राप्त शिक्षा—दूसरी बात यहां यह जानें कि वास्तविक निमित्त का परिचय विभाव की परभावता जानने के लिये करें कि मुझ में जो यह विकार जगता है, कषाय जगती है यह मेरा स्वरूप नहीं, मेरा स्वभाव नहीं। यह पुद्गलकर्म निष्पन्न है। समयसार में इस निमित्तनैमित्तिक भाव का वर्णन विशेषतया किया है। तो एक तो वहां जहां बताया है कि जीव कर्मोदय से सुखी दुःखी होता है, जीव का आयुक्षय से मरण होता है, आयु उदय से जीवन होता है वहां बताया है। दूसरे अजीवाधिकार में कहा है कि जितने ये सब विभाव हैं ये पौद्गलिक हैं, पुद्गलकर्म निष्पन्न है, तेरे स्वरूप नहीं, तेरे स्वभाव नहीं। तो निमित्तनैमित्तिक भाव का वर्णन इस प्रयोजन से समझना कि हमको विभाव से हटने की उमंग मिलती है, साहस जगता है, सही परिचय बन जाता है। तो निमित्तनैमित्तिक भाव का वर्णन तो विभावों से हटने का प्रयोजन रखता है और वस्तुस्वातंत्र्य या उपादान के स्वभाव का जो वर्णन है वह अपने सहज स्वभाव में लगने के लिए उमंग देता है, सही परिचय देता है।

उपयोग के विकल्पपरिणमन की कष्टरूपता—यहां यह बात कही जा रही है कि जगत में जितने भी जीवों को कष्ट है वह कष्ट क्या है ? अपने उपयोग का विकल्प परिणमन। विकल्प किया, इष्ट अनिष्ट बुद्धि की,

यह भला यह बुरा। भला जिसको समझा उसमें राग किया, अनिष्ट जिसे समझा उसमें द्वेष किया, मगर आत्मन् देख तो सही, परवस्तु जितने हैं वे तेरे से सर्वथा भिन्न हैं, अस्तित्व ही निराला है। चाहे कुटुम्ब का कोई बच्चा है, चाहे कुटुम्ब का कोई प्राणी हो, जितने भिन्न जगत के अन्य प्राणी हैं उतने ही पूरे भिन्न कुटुम्ब में रहने वाले थे सब हैं, ऐसा तू जान। अब जब सब सर्वथा भिन्न है तो वास्तव में कोई न तो जीव इष्ट रहा, न अनिष्ट रहा मायने न तेरा हितकारक रहा, न अहितकारक रहा। तू उनमें राग विरोध क्यों करता है? राग विरोध करता है तो अपराध लगा है वहां दुःखी होता है। कोई कहे कि हम गृहस्थी में हैं तो वहां कैसे राग विरोध सह सकते ? तो हम भी छोड़ सकते कि नहीं छोड़ सकते तो मत छोड़ो, किन्तु हम रागद्वेष न छोड़ें और हम सुखी हो लें, यह समन्वय मत जोड़ें। नहीं छोड़ सकते तो दुःखी होना पड़ेगा। नहीं राग विरोध छोड़ते तो दुःखमयी यह स्थिति चलेगी। वहां यह बात बनना चाहिए कि हम में धर्म श्रद्धान इतना पूरा बन जाय कि जिससे दुःखी न होना पड़े और गृहस्थी में सधता नहीं है, सो राग की भी इजाजत मिल जाय तो दो काम एक साथ नहीं होते। जितने अंश में ज्ञान है, स्वच्छता हैं उतने अंश में तू भला है। शान्ति पायगा और जितने अंश में राग चल रहा है उतने में बंध है, तू संक्लेश पायगा। तो देख तू अपने आप विवश होकर विपरिणमन किये जा रहा है।

शान्ति के उपाय की स्वाधीनता—तू चाहता तो शान्ति है ना, सो शान्ति की प्राप्ति का जो उपाय है, जिसमें वास्तविक स्थायी पवित्र शान्ति होती है उस स्थिति की प्राप्ति तो स्वाधीन हैं, पराधीन नहीं। कोई किसी बालक को कह दे, किसी से कह दे कि, तुमको यहीं बैठना पड़ेगा एक घंटा, परिस्थिति है, न जाने दे, बैठना पड़ रहा है तो भले ही यह स्थिति बन गई, मगर कोई यह कहे कि देख तू अपने ज्ञानस्वभावपर दृष्टि मत दे, तेरा किसी पर वश चल सकेगा क्या ? देख तू अपने मन में ऐसा ही चिन्तन बनाये रख, इस पर किसी का वश चलेगा क्या ? भले ही कोई शरीर में रखदे, जेलखाने में डाल दे, बन्धन में डाल दे मगर इस ज्ञान को कोई बन्धन में नहीं डाल सकता। जैसा मेरा ज्ञान है, जैसी मेरी योग्यता है उस योग्यता के अनुकूल मैं अपने मे अपना परिणमन करुंगा। इसे कोई नहीं मेट सकता। तो देखो जिस स्थिति में स्थायी शान्ति हो सकती है वह स्थिति तो स्वाधीन है और सर्व प्रकार के विकल्प, हठ, कषाय, पक्ष, प्रोग्राम—ये सब अपने चित्त से निकालकर जब तू ज्ञानानुभव के लिए चाह रहा हो तब इन सब प्रोग्रामों से, इन सब बातों से विकल्प को निकालकर केवल एक ही प्रोग्राम रख कि मेरे को तो आत्महित करना है। कैसे मैं अपने ज्ञान का अनुभव करुं, केवल यही कार्य मेरे को इस जीवन में करने को पड़ा है, इसके अतिरिक्त अन्य कार्य करके मुझे क्या लाभ है ? अन्य कार्य का विषय दूसरा जीव होता है, वह क्या मेरा स्वामी है, वह क्या मेरा प्रभु है, वह क्या मेरा रक्षक है ? अरे मेरी रक्षा करने वाला कोई अन्य नहीं है। मैं ही अपने ज्ञान-स्वभाव को संभालूं, उसके अनुकूल अपना प्रवर्तन बनाऊं तो मैं अपना भला कर सकता हूं। इसलिए एक ही काम रखना चित्त में कि मेरे को तो आत्मकल्याण चाहिए; रागविरोध न चाहिए, अन्य अन्य झंझट न चाहिए। केवल एक आत्मकल्याण चाहिए। हां इस बात पर डट तो नहीं पाते, ऐसे उसयोग में हम रह तो नहीं पाते, क्योंकि रागवासना है, योग्यता है तो तू अपने राग का ऐसा उपयोग कर कि जिसमें ज्ञानसाधना का सम्बन्ध बना रहे। मगर प्रवृत्ति कर तो ऐसी कर कि तू अपनी ज्ञानदृष्टि का अपात्र न बन सके, इसलिए ज्ञान की साधना में रह। लक्ष्य एक ही रख कि मुझे तो ज्ञान में ज्ञान को मग्न करके सदा के लिए संसारसंकटों से छूटने का उपाय बनाना है। तो यह उपाय तो स्वाधीन है। उसके लिए बस आत्मसन्मुख हो जावो। जो उपयोग को हम बाहरी अभिमुख करते हैं सो बाहरी अभिमुख न करके अन्तःअभिमुख करना, बाहर की सारी घटनाओं को एकदम भुला दें। जैसे कभी बच्चे लोग तालाब में कूदते हैं तो कूदने से पहले अपनी पूरी तैयारी कर लेते, जैसे धोती कस लेते और सावधान हो जाते और बाकी बाहर की सारी बातों को भुला देते, एक उस सरोवर में ही कूदने और अवगाहन करने का ही ध्यान रखते हैं ऐसे ही तू अगर

इस ज्ञानसरोवर में अवगाहन का ध्यान कर और सारे विकल्पों को तोड़ और ऐसी ही अपनी भीतरी तैयारी बना तो तू ज्ञानानुभव को पा लेगा, उस ज्ञानसरोवर में अवगाहन कर लेगा। तू बाहर की घटनाओं को भुला।

बाहरी ख्याल छोड़कर अन्तः ज्ञानसुधासिन्धु में अवगाहन करने का अनुरोध—देख बाहर के ख्यालों में तू रगड़ा ही चला जा रहा है, घिसा ही जा रहा है। उनमें आसक्ति मत कर, क्योंकि बाह्य की आसक्ति में लाभ रंच भी नहीं है, और देख बाहर से जहां दृष्टि हटायी, अन्दर में दृष्टि लगी तो यह दिखेगा तेरा आनन्दधाम, ज्ञानप्रकाशमय। फिर ज्ञान में उस ज्ञानस्वरूप को तू लेगा तो जो विलास बनेगा, जो परिणमन होगा, जो अनुभूति होगी उसमें ही तू रत हो, संतुष्ट हो। यहां ही तू तृप्त हो। बाहर में दृष्टि देकर संतोष कभी न आ पायगा, बाहर तो इतनी ही प्रवृत्ति रख, क्योंकि यह फंसाव है, गृहस्थी है अथवा एक प्रमाद दशा है, तो इसकी ही प्रवृत्ति रख जिससे तू अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि का अपात्र न बन सके, और अन्दर में देख, तृप्त हो जा, शान्त हो जा, निस्तरंग बन। जब यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप में इस तरह अवगाह के लिए उद्यत होता है तो वहां जो आनन्द मिलता है उसके बाद जब थोड़ा अपना ख्याल आता है तो वहां उस आनन्द का बड़ा स्मरण होता। अहा वही आनन्द मेरे को पार करेगा, कर्मों का विध्वंस करेगा। क्लेश से कर्म नहीं कटते किन्तु वास्तविक सहज आनन्द के अनुभव से कर्म कटा करते हैं। बस इस बात का निर्णय रखें कि मैं ऐसा शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन अष्टम भाग समाप्त ॥

नवम भाग

अहो, अब तक मेरी खूब विडम्बना होती रही, अब क्यों न अपनी दुर्दशा के कारण का परिचय करु ं और उतमदशा का उद्यम करु ं ? मैं अनादि से अपने ही प्रज्ञा के अपराध से रागद्वेषादि परद्रव्यभावों में ठहरता आया हूं, इसी से विचित्र भव धारणरूप दुर्दशायें हुई हैं। अब अपने ही प्रज्ञा के गुण से रागद्वेषादिक परद्रव्यभावों से हटव र अपने ही श्रद्धान् ज्ञान आचरण में आऊं और यहीं रमूं। मैं सिवाय भाव के और कुछ कर सकता ही नहीं, सो अब मिथ्याभाव को छोड़कर सम्यग्भाव को ही ग्रहण करु ंगा। सम्यक्के प्रति झुकाव सम्यग्भाव का मूल है। सम्यक् क्या ? यह मात्र सहज चैतन्य···शुद्ध चैतन्य···चिच्चमत्कार। अहा··· ॐ···ॐ···ॐ···शुद्धं चिदस्मि।

जीव का आदिवास निगोद पर्याय—एक नियम है कि जो भी चीज होती है वह कभी से हुई हो ऐसी बात नहीं है, अर्थात् जो है वह अनादि से है। हालत तो कभी होती है, मिटती है, मगर वस्तु का अस्तित्त्व कभी से बना हो ऐसा नहीं होता। जो नहीं वह हो नहीं सकता, जो है वह मिट नहीं सकता। हालत की बात नहीं कह रहे किन्तु वस्तु की बात कह रहे हैं, तो हम भी कोई भी पदार्थ हैं, तो हम हैं तो अनादि से हैं। किसी दिन हमारा अस्तित्त्व बना हो, ऐसा नहीं है। हां, पर्याय बन रही है, पर मैं आत्मा अनादि से हूं, तो आज मनुष्य हूं, इससे पहले कहीं भगवान तो न थे, सिद्ध तो न थे, क्योंकि भगवान होता, सिद्ध होता तो आज मनुष्य पर्याय की इस अशुद्ध हालत में न होता। तो इससे पहिले मैं था अशुद्ध और उससे पहिले किसी और भव में। तो बहुत पहले लगाते जावो, हम किसी न किसी भव में थे, तो बहुत पहले हम थे निगोद। हम ही क्या, जितने भी सिद्ध भगवान हुए हैं वे भी कभी निगोद में थे। वहां से निकले, मनुष्य हुए, मोक्ष पधारे, सर्व जीवों का आदि निवास है निगोद। निगोद क्या चीज है ? जो ५ स्थावर हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, अथवा वनस्पति के दो भेद हैं—(१) निगोद, (२) हरी। यह सीधे शब्दों में कह रहे हैं, शास्त्रीय शब्दों में है साधारणवनस्पति और प्रत्येकवनस्पति। साधारणवनस्पति निगोद को कहते हैं, प्रत्येक वनस्पति हरी को कहते हैं। जितनी भी हरी हैं वे प्रत्येकवनस्पति हैं, लेकिन एक बात और समझना है कि ऐसा बोलते हैं लोग कि आलू, अरवी ये सब साधारण हैं, पर उसको साधारण नहीं कहते। यह कहलाता है साधारणवनस्पति सहित प्रत्येकवनस्पति, अथवा साधारण वनस्पति तो निगोद का नाम है। अब आलू आदिक जो मूल कंद की चीजें हैं वे हैं प्रत्येक वनस्पति, किन्तु साधारणवनस्पति सहित है तो हरी है, मगर निगोद सहित है। कुछ हरी निगोद रहित होते, कुछ हरी निगोद सहित होते। जो निगोद सहित हरी है वह अभक्ष्य है और जो निगोदरहित हरी है, वह भक्ष्य है। तो जो साधारणवनस्पति है वह कहलाता है निगोद। तो यह जीव बहुत पहले प्रारम्भ में निगोद था।

निगोद की परिस्थितियां—निगोद में क्या अवस्था गुजरती है ? एक शरीर के स्वामी अनेक जीव हैं। जैसे यहां हमारा एक शरीर है तो इसके अधिष्ठाता हम एक जीव हैं, लेकिन निगोदों में ऐसा नहीं है। शरीर एक है और वह नाना जीवों का शरीर कहलाता। अब यहां थोड़ा सोच रुकते हैं कि ऐसा कैसे होगा कि शरीर एक है और उसके स्वामी अनन्त निगोद जीव हैं ? तो बात यह है कि उन अनन्त निगोद जीवों का जो तैजस और कार्माण शरीर है, सूक्ष्म शरीर वह तो न्यारा न्यारा है। जैसे वे अनन्त जीव न्यारे न्यारे हैं ऐसे ही उनके साथ तैजस और कार्माण शरीर भी उनका न्यारा न्यारा है। स्थूल शरीर एक हो गया। कभी देखा होगा उसका उदाहरण तो नहीं दे रहे, लेकिन कभी ऐसे बच्चे पैदा होते हैं कि पेट एक है और सिर दो हैं, हाथ चार हैं, तो वहां तो दो ही जीव हैं और दो ही शरीर हैं, लेकिन वह सब ऐसा चिपट गया कि वह एकसा बन गया। तो एक साधारण बात चल रही। निगोद में तो इससे बदतर हालत है। औदारिक शरीर एक है और उसके स्वामी नाना जीव हैं, तब ही तो यह बात है कि

एक साथ उनकी श्वास चलती है, जन्ममरण होता है और वे एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करते हैं, श्वास भी कौन सी ? हाथ की नाड़ी चलती है तो एक बार के उचकने में जितना समय लगता है, एक सेकेण्ड से भी कम समय जिसका हिसाब यों बैठता है कि एक सेकेण्ड में २३ बार जन्ममरण होता है। एक श्वास में १८ बार कहो या एक सेकेण्ड में २३ बार कहो, इतना जन्ममरण होता है। यह दशा हम आपकी थी।

अपनी गत विगत तुच्छ स्थितियों के विचार से तृष्णा की निवृत्ति—आज मनुष्य हुए, कुछ पुण्य का उदय आया, सो भारी कल्पनायें लगाते और दुःखी होते, हाय ऐसा न हो। इतना धन कम हो गया, यह आय कम हो गई। बड़ी-बड़ी चिन्तायें करते हैं मगर स्थिति तो देखो हमारी क्या थी निगोद अवस्था में ? केवल स्पर्शन-इन्द्रिय थी, कितनासा ज्ञान ? और एक श्वास में १८ बार जन्म मरण। उस निगोद से निकलने का क्या साधन ? पहले बांधे हुए कर्म जब किसी समय कुछ थोड़े अनुभाग में आते हैं और उस समय वहां के योग्य कुछ परिणाम ठीक बनते हैं तो निगोद से निकलकर दूसरी पर्याय मिलती है, तो कुछ भी मिल जाय, निगोद से निकलकर सीधा मनुष्य भी हो सकता है लेकिन हम कुछ क्रम की बात कह रहे हैं। यह जीव निगोद से निकला तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति हुआ। साधारणवनस्पति तो यह है ही। साधारणवनस्पति निगोद को ही कहते हैं। वहां से निकले तो ऐसे ५ स्थावर हुए, सो वहां के दुःख देखो—पृथ्वी, खदान खोदते हैं, अच्छी मिट्टी लाते या पत्थर खोदते, बहुत गहरे-गहरे गड्ढे जमीन में खोदे जाते हैं, वहां वह पत्थर वह पृथ्वी जीव हैं। उनको लोग खोदते, पीटते, सुरंग लगाते, तो उन जीवों को क्लेश नहीं होता क्या ? ऐसी हालत हुई हम आपकी। जल हुए तो उसे खौलाया, गर्म किया, बंद किया, ये सब जलकी स्थितियां हुईं, इससे जलकाय को पीड़ा नहीं होती क्या ? तो ऐसी स्थिति हम आपकी गुजरी है। अग्नि हुए तो अग्नि को बुझा दिया, अग्नि को बंद कर दिया। जिससे हवा न लगे, अनेक स्थितियां हुईं, और वायु हुए तो रबड़ में रोका, कहीं रोका, पंखों से चलाया, बिदाड़ा तो उनकी हिंसा हुई ना, ऐसी स्थितियां हम आपकी हुईं, प्रत्येकवनस्पति हुए तो फूल तोड़ लिया, फल छेद दिया, विदार लिया तो उनकी हिंसा हुई। तो ऐसी-ऐसी स्थितियों में हम आप थे, ऐसा ही समझिये।

लोकपरिचय, कालपरिचय व जीवदशापरिचय का प्रभाव—देखो सही बुद्धि बनाने के लिए अपने आपमें अपने मति आ जाय इसके लिए ५ बातों का ज्ञान, परिचय बहुत ही सहयोग देता है। एक तो लोकपरिचय—दुनिया कितनी बड़ी है, जितनी कि शास्त्रों में बतायी है उतनी समझ लें और जान लें कि इतनी बड़ी दुनियां में कोई प्रदेश नहीं बचा, जहां मैं अनन्त बार जन्मा मरा न होऊं, उस सारे लोक के सामने इह परिचय वाला १००-२०० मील का क्षेत्र यह कौनसी गिनती में है ? बिन्दु बराबर भी नहीं है, तो लोग सोचते हैं कि मेरा यश हो, कितने में ? २००-४०० मील में। अरे सारे लोक में यश रहे तो इस यश की इच्छा करें, थोड़ीसी जगह में इच्छा करके संसार अपना बढ़ाया, इससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं और यह कभी हो नहीं सकता कि सारे लोक में यश फैल सके। तो जब लोक का परिचय होता है तो इस परिचित क्षेत्र से व्यामोह नहीं रहता। कालपरिचय—काल तो अनादि अनन्त है, जिसका न आदि है, न अन्त है। इस अनादि अनन्त समय में हमारा यह ५०-६०-७० वर्ष की आयु का जीवन क्या मूल्य रखता है ? बिन्दु बराबर भी हिस्सा नहीं है। तो थोड़े समय के लिए आसक्ति होना, राग मोह होना, विकल्प होना, संक्लेश करना, इससे क्या लाभ है ? जीवदशापरिचय—जीव की दशा का परिचय होना, कि जगत में कैसे कैसे जीव हैं ? देखो अपना दुःख घट जाय, दुःख कम हो जाय, इसके उपाय दो हैं—एक तो दवाई वाला उपाय और एक औषधि वाला उपाय। जैसे दवा और औषधि दो निराली-निराली चीजें हैं। दवा से राग दब जायगा, पर मूल से न मिटेगा और औषधि से राग मूल से मिटेगा। तो इसी तरह अपना असंतोष अशान्ति दुःख दबाना हो तो अपने से जो तुच्छ दशा में हैं ऐसे जीवोंपर दृष्टि दें—कैसे गरीब, कैसे दुःखी, कैसे पशु पक्षी कीड़ा

वगैरह, उनपर दृष्टि दें तो दु:ख दब जायगा। अगर इस दु:ख को मूल से निकालना हो तो अपने स्वरूप पर दृष्टि दें, मेरा सहज चैतन्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, इसमें कहां विकार है, कहां कष्ट है? स्वरूप में विकार नहीं है, पर कर्मोदय का निमित्त पाकर विकार झलकता है। तो अविकार जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि दें तो मूल से दु:ख दूर हो जायगा। तो जीवदशा परिचय का ही प्रसंग यह चल रहा है।

जीवदशापरिचय से परिचेतव्य आत्मलाभ—यह जीव स्थावर में आया। स्थावर से कभी विशुद्ध परिणाम हुये उस योग्य तो दो इन्द्रिय हो गए। अब वहां स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियसम्बन्धी ही तो ज्ञान है और इन दो इन्द्रियजनित ही तो सुख है, सो लट, केचुवा, जोंक इनकी दशा देख लो। कैसी एक तुच्छ स्थिति में हैं। इससे आगे तीन इन्द्रिय हो गए तो तीन इन्द्रिय द्वारा ज्ञान और तीन इन्द्रिय द्वारा मौज ले सकने की बात हुई। तीन इन्द्रिय हैं चींटा चींटी कीड़ी, इनकी भी देख लो क्या हालत है? इससे और आगे बढ़े तो चार इन्द्रिय हुए। बर्र, पतंगा, ततैया आदिक हुए, इनकी भी दशा देख लो। पतंगे रोशनी में गिरकर मर जाते हैं। इनके भी मन नहीं है, और बड़े हुए तो पशुपक्षी आदिक हुए, मन वाले हुए तो इनको भी कितना दु:ख है? तो यह बात अपने आपमें लाइयेगा कि हमारी ये स्थितियां थीं। आज तो कुछ बहुत विशाल स्थिति है। भगवान के दर्शन, सत्संग, जिनवाणी का श्रवण, बतलावो जितनी योग्यता हो गई मनमें? अपने भाव दूसरे को बता सकते, दूसरे का भाव हम समझ सकते। यह बात पशु पक्षियों में कहां है? देवगति मिलती है तो वहां असंयम मोही एक से एक बड़ा धनी देखता है। यह करोड़पति है, यह अरबपति है तो लगता है छोटे को ऐसा कि ये बड़े सुखी होंगे, लेकिन उनकी बात वे ही जानते हैं। तो ऐसे ही देवगति के जो जीव हैं ऐसी बात सुनकर ऐसा लगता है कि बड़ी अच्छी गति होगी यह तो। वहां हजारों वर्ष में भूख प्यास लगती है तो कंठ से अमृत झर जाता है। भूख समाप्त और कई पखवारों में श्वास लेते! देखो श्वास लेने का रोग है। कोई ज्यादह कमजोर हो तो वह बहुत जल्दी-जल्दी श्वास लेता है। कोई कम कमजोर हो तो वह कम जल्दी श्वास लेता है और कोई विशेष स्वस्थ हो तो वह धीरे-धीरे आराम से श्वास लेता है और देवता लोग कई-कई पखवारों में श्वास लेते हैं। उनका वैक्रियक शरीर है। न उनके पसेव आये, न उनकी हड्डी है। तो ऐसी बात सुनकर लगता है कि देवगति में बहुत सुख होगा। मगर उनका मन कितना अशान्त है विषयों के वश होकर और ईर्ष्या के वश होकर दूसरों की ऋद्धि देखकर उनके मन में जो संताप होता है वह तो बहुत कठिन है। मनुष्यों से अधिक दु:खी हैं। तो संसार में कहीं भी देख लो, बड़ी विडम्बना है। तो अपनी दशा का परिचय जानकर कुछ अपना खेद तो लाना चाहिए कि यह सब दशा हुई क्यों?

अपना यथार्थ परिचय होने में ही मांगल्य लाभ—मैंने अपने आत्मा का स्वरूप न जाना। विषयों में आत्मबुद्धि की। जो शरीर पाया उसी को जाना कि यह मैं हूं। तो यों देहात्मबुद्धि करके यह जीव अपने को अब तक जन्ममरण में फंसा रहा है। अब मैं ऐसा उपाय करुं कि उत्तम स्थिति में पहुंचूं, जन्ममरणरहित स्थिति में पहुंचूं। एक ही भीतर में लक्ष्य हो कि मेरे को तो वह काम बनाना है जिससे मैं भगवान हो सकूं, वीतराग बन सकूं, संसार के संकटों से मुक्त हो जाऊं। ऐसी यदि भीतर में भावना है तो उसका उपाय भी बनेगा। जगत में कोई भी स्थिति रम्य नहीं है, रमने लायक नहीं है, ये तो सब एक बरबादी के साधन हैं। तो अपने को उत्तम स्थिति में पहुंचाना है, यह ध्येय बनना चाहिए। अच्छा तो वह ध्यान कैसे बन सकता, कैसे हम सफल होंगे तो सुनो— हम बरबाद कैसे हुए, इसको भी सोचें और हम आबाद याने संकट मुक्त कैसे होंगे यह भी सोचें। हम अपनी ही बुद्धि के दोष से, प्रज्ञा के अपराध से पर्याय को आपा मान मानकर अब तक जन्ममरण करते आये। देखो गणित जैसा हिसाब है। शरीर से प्रेम रहेगा तो शरीर मिलते जायेंगे। अब यह अपनी छांट की बात है कि शरीर मिलते रहना क्या आपको मंजूर है? यह शरीर छूटेगा, हम और नया शरीर पायेंगे, फिर और शरीर पायेंगे। बताओ ऐसा शरीर पाते रहने में आपको

खुशी हो रही क्या ? अरे यह तो कष्ट है । मेरे को शरीर मत मिले, मैं शरीररहित हो जाऊं, वह स्थिति है उत्तम । शरीरसहित बनते रहने की स्थिति भली नहीं कहलाती । तो जब शरीर से व्यामोह है तो जन्म मरण चलेगा और शरीर से व्यामोह न रहेगा तो कुछ ही काल में जन्ममरण से रहित स्थिति बन सकती है । तो हम अब तक जो संसार में रुले हैं सो अपनी बुद्धि के अपराध से ही रुले हैं, क्योंकि मैंने अपने स्वरूप को जाना नहीं । देहादिक पर-पदार्थों में रमता रहा । तो जहां इस तरह का विकल्प बना तो प्राकृतिक योग है ऐसा कि जो कार्माण वर्गणा है वह कर्मरूप परिणत हो जाती है और उसके साथ वह बंध जाता है । उनका उदय होता है, फिर कषायभाव जगता है । तो यह सब बात मिट जाय उसका उपाय बनावें । यह है उपाय कि ज्ञान की सम्हाल कर लें, अज्ञान दूर होगा तो अज्ञान के आधार पर जो जो विडम्बनायें चल रही हैं वे भी समाप्त हो जायेंगी ।

अज्ञान के खिसकने से सकल क्लेश और दोषों की खिसक—जैसे बच्चे लोग एक कहानी सुनाते हैं कि एक स्यालिनी के बच्चे होने को थे, सो स्याल से कहा कि बच्चे कहां पैदा करें, तो स्याल उसे एक सिंह की गुफा में ले गया । स्यालिनी ने वहां बच्चों को जन्म दिया । अब वहां आया शेर तो स्यालिनी कहती है स्याल से कि अब क्या करें, शेर आ गया, हमें भी खा जायगा, तुम्हें भी और बच्चों को भी । तो स्याल बोला, तुम घबड़ाओ मत और कुछ सिखाकर गुफा के ऊपर एक भींत पर चढ़कर बैठ गया । शेर आया तो स्यालिनी ने बच्चों को रुला दिया । ऊपर से स्याल ने पूछा—बच्चे क्यों रोते हैं ? तो स्यालिनी बोली ये बच्चे शेर का मांस खाने को मांगते हैं । तो शेर ने यह बात सुनी और सोचा कि अरे जिसके बच्चे मेरा मांस खाने को मांगते वह न जाने कितना बहादुर होगा, डर के मारे भाग गया । दूसरा शेर आया तो उसको भी ऐसा ही किया । यों दसों शेर आये और सब डरकर भाग गए । एक बार सभी शेरों ने मिलकर सलाह किया कि देखो जो गुफा के ऊपर भींतपर स्याल बैठा है उसकी कुछ करतूत मालूम होती है, उसे अपन लोग पकड़ कर मार डालें । अच्छा तो कैसे मारा जा सकता ?…देखो अपन लोग एक पर एक चढ़कर ऊपर पहुंच जायेंगे और उसे पकड़कर मार डालेंगे । ठीक है । जब सभी शेर गुफा के पास पहुंचे तो उनमें सलाह हुई कि नीचे कौन खड़ा हो ? निर्णय हुआ कि यह जो लंगड़ा शेर है यह ऊपर चढ़ तो पायगा नहीं सो यह नीचे रहे । ठीक है । लंगड़ा शेर तो नीचे खड़ा हुआ और उसके ऊपर एक पर एक शेर चढ़ता गया, जैसे बच्चे लोग दरवाजे की सांकल खोलने के लिए एक पर एक चढ़कर खोल लेते हैं ऐसे ही वे शेर भी एक पर एक चढ़कर स्याल के पास तक पहुंचने लगे । जब स्याल के बिल्कुल करीब तक पहुंच गए तो नीचे से स्यालिनी ने बच्चों को रुला दिया । स्याल ने पूछा—बच्चे क्यों रोते हैं ? तो स्यालिनी बोली—ये बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाने को मांगते हैं । तो यह बात सुनकर लंगड़ा शेर डरा और खिसककर भगा । उसके खिसकने से सभी शेर एक पर एक भदभद करके गिरे और भगे । तो इसी प्रकार समझो ये जगत के जितने दुःख हैं वे अज्ञान से हैं । अब ऐसा उपाय बनावें कि यह अज्ञान नीचे खिसके और सारे दुःख एक दम से भगें ।

भाव की संभाल न करने के अपराध में विडम्बना का प्रसंग—जितनी भी विडम्बनायें होती हैं वे प्रायः अपने ही अपराध से होती हैं । मूल में कर्मोदय की जो झांकी हुई, उपयोग में रागद्वेष आया उन रागद्वेषों में हम भटक गए और व्यक्त रूप में जो बाहरी विषयभूत पदार्थ हैं उनमें रम गए जिससे हम अनादि से अब तक जन्म मरण करते चले आये । और संसार में शरीर धारण कर करके अनेक दुर्दशायें हुईं । अब क्या करना ? अपनी बुद्धि के दोष से दुःख पाया तो अपनी बुद्धि के विकास से हम दुःखों से दूर हो सकते हैं । अपने स्वरूप को निहारें । सबसे निराला ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्व हूं । इसमें विकार नहीं, किन्तु कर्मोदय की झांकी होती है, विकार जगता है और हम रुलते हैं, पर मेरे स्वरूप में विकार नहीं, ऐसा अविकार ज्ञानमय स्वरूप देखो और रागद्वेषादिक परद्रव्यों में न अटकें तो हम अपने स्वरूप को पा लेंगे और अविकार हो जायेंगे । तब क्या करना ? इन विषयों से हटना, इन रागद्वेषादिक

विकारों से हटना और अपना जो स्वरूप है उसकी श्रद्धा बनायें। ज्ञानमात्र हूं—उसका ज्ञान करें और ज्ञान को ज्ञाता द्ष्टा रूप में रहने दें। यह ही आचरण है निश्चय से, इस श्रद्धान्, ज्ञान और आचरण में मैं आऊं और यहीं रमूं तो मैं संकटों से छूट सकता हूं। देखो निश्चय से तो यही करना है। मगर ऐसा हम कर सकें उसके लिए जब तक योग्यता नहीं बनती तब तक कैसे कर सकते हैं? बस उसी को कहते हैं व्यवहार धर्म। जब हम तन मन वचन का कुछ व्यापार कर रहे हैं तो अच्छा करें, बुरा मत करें, बस यही है पात्रता की बात और ऐसा शुद्ध सदाचार के जीवन में रहते हुए भीतर में अपने ज्ञान की आराधना बनावें। तो इस प्रकार मैं अपने भावों को विशुद्ध कर इन संकटों से दूर हो सकता हूं। उस भाव के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता हर जगह। संकट सहता हो तो वह भी भाव का ही परिणमन है। सुख मानता हूं तो भी भाव का ही परिणमन है और आनन्द पाऊं तो वह भी भाव का परिणमन है। उस भाव के सिवाय और कुछ कर सकता ही नहीं। तो मिथ्याभाव को छोड़ें और सम्यक् भाव को अपनायें। मिथ्याभाव क्या है? मिथ्या शब्द बना है मिथ् धातु से याने भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक कर देना। जिस परिणाम में हम दो पदार्थों को एक बना रहे हैं वह परिणाम मिथ्या है, दो है, देह अलग, आत्मा अलग। देह में भी एक अणु-अणु अलग। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थों से भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अस्तित्व में निरखना यह ही है एक सम्यक्भाव तो मिथ्या भाव से हटें, सम्यक्भाव में आयें।

प्रारम्भिक आत्मपरिचय के समय की विलक्षण गुदगुदी—आत्मा का जो सहजस्वभाव सम्यक्भाव है, उसके प्रति झुकाव होना, बस यही हमारे कल्याण का उपाय है। मैं यह हूं, जैसे अपना बच्चा खो गया और खूब ढूंढा बाहर भी, गांव में भी और आखिर वह घर के एक कोनेमें छिपा हुआ मिल गया तो उस पर कितना रोष आता है कि मैं तो गांव भर में भटका, तुझे ढूंढा, तू तो यहीं छुपा है। अरे मिला तो सही मगर उसके प्रति हम कुछ रूस में आये, तो इसी प्रकार देखो यह अनादि सिद्ध सहज परमात्मतत्त्व को ढूंढ़ा भटक भटककर, मगर मैं इसे पा चुका तो पा तो चुका, मैं को उसने समझ तो लिया कि यह हूं मैं सहज परमात्मतत्त्व आनन्दधाम, लेकिन यह रूससी भी आयगी कि तू यहीं तो था, क्यों नहीं पहले दिख गया, क्यों मैं अब तक रुला? तो जो यह चैतन्यस्वभाव है वही सम्यक् है। वही शुद्ध चैतन्य है, इसी को चैतन्यचमत्कार कहते हैं। अब देखो—अहा कैसा आनन्दधाम यह भगवान ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व अपने में ही प्रकाशमान है। उसे पा लें तो सब पाया और इसे न पा सके तो बाहरी बातें कुछ भी पायी हों उनका कुछ भी अर्थ नहीं हो पाता। तो ऐसा जो सहज सिद्ध शुद्ध परमात्मदेव है इसे स्वीकार करें कि मैं यह हूं। मैं हूं यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप। इसकी आराधना में जितना अधिक समय लग सके लगायें, इससे इस मानवजीवन की सफलता है।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥

दशम भाग

प्रिय आत्मन् ! क्यों कायर बन रहा है, तुझमें किसी परद्रव्य का प्रवेश ही नहीं है, किसी परद्रव्य से तेरा बिगाड़ नहीं, परमार्थतः कर्मफल को भी तू भोग सकता नहीं, केवल कर्मफल के प्रतिफलन को स्वीकार कर पाता है। सो समझ, यह तो मेरे अधिकार की बात है कि कर्मफलों को स्वीकार न करूं, समस्त कर्मफलों से दृष्टि हटाऊं, चिच्चमत्कारमात्र निज अन्तस्तत्त्व की उपासना करूं। यही चैतन्यचमत्कार है मेरा सर्वस्व शरण•• शुद्ध•• निर्विकल्प •••अखंड•••चैतन्यस्वरूप•••अहा •• ॐ •••ॐ•••ॐ•••शुद्धं चिदस्मि।

सुखपात्र निजको समझनेपर ही परम आनन्द की प्राप्ति के उपाय की उपलभ्यता—सबके चित्त में यह बात रहती है कि मुझको सुखी होना है। जिसको सुखी होना है उसे पहले पहचानें तो सही। किसको सुखी होना है ? यह जीव कभी इन नाक आंख कान को समझकर कि यह मैं हूं और इस मुझको सुखी करना है यों विचार करते हैं पर यह सुखी होना नहीं, यह अचेतन है। उसपर दृष्टि रखकर कोई उपाय बनायें तो दृष्टि भी खोटी, उपाय भी खोटा। यह तो समझ लेना चाहिए कि जिस मुझको सुख होता है वह मैं क्या हूं ? किसको सुखी होना है ? वह मैं शरीर नहीं, शरीर पुद्‌गल परमाणुवों का पिण्ड है, अचेतन है, यह जानता नहीं, इसमें आनन्द की बात होती ही नहीं, इससे निराला कोई मैं चेतन पदार्थ हूं, उस मुझको सुखी होना है, फिर और अन्तः परख बनायें तो जो मैं विचार करता हूं, रागद्वेष करता हूं, कल्पना में बना रहता हूं, ऐसा मैं हूं, इस मुझको सुखी होना है तो कुछ भी ठीक न समझें, वह मैं नहीं हूं, वे तो औपाधिक स्थितियां हैं, कर्म का विपाक है, निमित्त पाकर होने वाला परिणमन है उसको सुखी नहीं होना है, यह तो स्वयं अशरण है। कषाय आयी, थोड़ी देर में चली गई। क्या कषाय को सुखी करना है, क्या विषयभूत परमाणुवों को सुखी करना है ? ये कोई मैं नहीं हूं। इनसे निराला हूं, क्या मैं उसको दुःखी सुखी करता हूं, तो उनसे निराला मैं क्या हूं ? वह सहज ज्योति चैतन्यस्वरूप। क्या इसको सुखी करना है ? अरे इसको क्या सुखी करना ? यह तो स्वयं आनन्दमय है। इस सहज आनन्दमय आत्मतत्त्व को भूल गए तब सुखी करने के विकल्प उठते थे। जब इस सहज आनन्दमय इस ज्ञायकस्वरूप को निरख रहे हैं तो इस दृष्टि में स्वयं आनन्द का विकास है।

परमानन्दस्वरूप निजतत्त्व की पहिचान से आत्मशौर्य की व्यक्ति—यह मैं आनन्दमय तत्त्व हूं, और यह स्वरूप एक प्रबल किला है, इस स्वरूप में किसी दूसरी चीज का प्रवेश नहीं होता। यह आत्मतत्त्व पानी से नहीं गलता, आग से नहीं जलता, किसी के पकड़े नहीं पकड़ा जाता, बंधन में नहीं आता। वह स्वरूप तो अपने आपके स्वरूप में है, फिर बन्धन कैसे बनें ? पकड़ में कैसे आया ? बन्धन यों बना कि मैं अपने स्वरूप को भूल गया और बाहरी पदार्थों में अपना स्वरूप ढूंढ़ने लगा। बाहर में ज्ञान के ढूंढ़ने का अर्थ है अपने को बाहर में ढूकना, बल्कि जब बाहर कुछ उपयोग है, बाहर में ज्ञान और आनन्द को ढूक रहा है और वहां है नहीं तब इसके उपयोग को चोट पहुंचती है। चाहते तो हैं सुख और मिलता नहीं है तो सुख की आशा बाहरी पदार्थों से बनाता है और कायर बनता है। बाहरी पदार्थों से कुछ भी सुख की आशा रखने का नाम ही कायर होना है। शूर वीर पुरुष वह है जो अपने आत्मस्वरूप को ज्ञानानन्दमय निरखता है, अपने में ही तृप्त होता है, अपने में ही रमता है, वही एक शूर वीर है। एक युवक राजा था। उसने अपने बल से सब राजाओं को जीत लिया और सभी लोग उसे सर्वजीत कहने लगे तो सभी लोग तो उसे सर्वजीत कहें, पर मां न कहती थी सर्वजीत। तो वह राजा बोला कि मां मुझको सभी लोग सर्वजीत कहते हैं, तू मुझे सर्वजीत क्यों नहीं कहती ? तो मां बोली—बेटा क्या तुमने सचमुच सबको जीत लिया ?••• हां मां, सबको जीत लिया, बताओ कौनसा राजा रह गया जो मेरे वश में नहीं है ? मैं सबको जीत चुका। •• तुम

सबको जीत चुके ? अच्छा तुमको जो इतना गर्व हो रहा है यह गर्व यह सिद्ध कर रहा है कि तुमने अपने आत्मा को नहीं जीता । जब तुम अपने आत्मा को जीत लोगे तो मैं भी तुम्हें सर्वजीत कहने लगूंगी । सर्वजीत कौन, सर्वविजयी कौन ? जिसने अपने आत्मा को जीत लिया, उसे वश कर लिया ।

आत्मप्रगति में विनय की सहयोगिता—अब इस आत्मा को वश करने का प्रारम्भिक उपाय बतलाते हैं । प्रारम्भिक उपाय है विनय । खूब भले प्रकार सोचें, जिस पुरुष में विनय नहीं है वह तो पशु है, बैल है । जैसे कि ये पशु लोग विनयरहित होते हैं ऐसे ही कोई मनुष्य नम्रता से रहित हो, विनय से रहित हो, उद्दण्डता भरी हो तो वह मनुष्य अपनी प्रगति नहीं कर सकता । यों तो कल्पना में सभी अपने को बहुत महान समझते हैं, मगर प्रगति का बीज है तो विनय है । देखो विद्या से विनय आती है और विनय से पात्रता बनती है, यह लोकरीति नीति है, वह ज्ञानी नहीं जो विनयशील न हो । ज्ञान तो विनय सिखाता है । अब विनय सीख जावो, अपने परिजनों का विनय करें, गुरुजनों का विनय करें, अपने से समान वाले का विनय करें, अपने से जो छोटे हों उनका भी विनय करें, क्योंकि वे हमारे प्रभुता के समान ही प्रभुता के स्वरूप ही हैं, सभी जीवों में परमात्मस्वरूप है, इसलिए छोटे से भी छोटा जीव है तो उसके प्रति भी विनयभाव रखें । तो एक दृष्टि जगे अपने स्वभाव की और फिर विनय से, नम्रता से, विधान से उपयोग ढलता है अपने स्रोत की ओर । जैसे गर्मी के दिनों में तेज ताप पड़ने से समुद्र में से भाप उठी और वह बादल बन गई, मानो उसने समझा कि मैं ऊंचा उठ गया, गड़गड़ाने लगा, गर्व सा हो गया, चारों ओर भागता फिरता है, वह बादल अपने स्रोत से बिछुड़ गया, समुद्र से बिछुड़ गया और कठोर बनकर आसमान में डोलने लगा । जब कभी कोई सुयोग होता है तो वह पानी बनकर फिर बरसता है और नम पथ पाकर वही पानी ढल ढलकर समुद्र में ही मिल जाया करता है । लो चिरकाल से या कुछ महीनों से बिछुड़ा हुआ पानी अब अपने घर में आ पाया है । तो जैसे नम्र स्थान पाकर पानी ढलकर अपने मूल स्थान में पहुंच जाता है जहां से वह उठा था । इसी तरह यह उपयोग गर्व में आकर बाहर अपनी पर्याय की शान बगराकर यह दूर उठ गया । दूर उठने के मायने और लोगों को तुच्छ, नासमझ गिनने लगा और अपने को मैं ही सब कुछ समझता हूं, मैं ही एक महान हूं, यों बताने लगा, उसका उपयोग नम्रता में आये, विनय से उपयोग आर्द्र हो जाय तो यह दर्शन ज्ञान चारित्र तप के धारी पुरुषों में विनय रखता है, और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप इन भावों में विनय करता है । तो ऐसा विनयशील पुरुष अपने आपके स्वभाव की ओर जाता है । जब तक अपना स्वरूप अपने को नहीं मिलता तब तक यह जीव अधीर होकर घबड़ाकर, नाना विकल्पों का त्रास सहकर संक्लेश करता है ।

आत्मप्रगति में दया के सहयोग का स्थान—देखो दया का सम्बन्ध कितना है आत्मा के साथ ? दया लोक में तो यह है कि कोई भूखा प्यासा हो, दुःखी रोगी हो तो वह दुःखी न रहे, उसका उपाय बना दे, इस उपाय का मतलब क्या कि वह संक्लिष्ट न रहे और कदाचित वह अपने कल्याण का मार्ग पाने की बात सोच सके । अच्छा फिर आप बतलावो जो असंज्ञी जीव हैं, पतिंगे हैं, कीड़े हैं, इनके तो मन है नहीं । ये तो कल्याण की बात सोच ही नहीं सकते । इनकी दया क्यों करना ? इनकी दया यों करना कि यदि ये कष्ट से मरेंगे, संक्लेश से मरेंगे, तड़फकर मरेंगे, दबा देने से या आग में पड़ने से तो संक्लेश से मरने पर यह उस भव में जायगा अभी जिस भव में है उससे नीचे भव में, क्योंकि संक्लेश का यह ही फल है । चारइन्द्रिय जीव तड़फकर मरें तो संक्लेश से मरने पर वह एकेन्द्रिय आदि तुच्छ बनेगा, तो लो अब कितना ढकिल गया पीछे । अभी तक तो उसका विकास चल रहा था और विकास करता, पञ्चेन्द्रिय होता, मन वाला होता, सम्यक्त्व का पात्र बन जाता, लेकिन हमारे थोड़े प्रमाद से हम देखकर न चले या हम अपने एक प्रकाश के लोभ से, प्रकाश जल रहा है, मोमबत्ती जल रही है, कीड़े उसमें आ आकर मर रहे हैं, हम अपने थोड़े से मौज के लिए ऐसा वातावरण बनायें और वहां जीव संक्लेश से मरें तो जो जीव संक्लेश से

मरता है वह उससे नीची दशा मे जन्म लेता है। इसलिए मेरे द्वारा किसी को संक्लेश न हो और वह उससे नीची दशा में जन्म न ले, नहीं तो वह और पीछे हट गया। वह संकटों के छूटने के मार्ग से बिल्कुल गिर गया। इसलिए दया का सम्बन्ध आत्मविकास से है। तो हर प्रवृत्तियों में ज्ञानी जीव के स्वभाव विकास का लक्ष्य रहता है। यह भी विकसित हो, मैं भी विकसित होऊं, मोक्ष कहीं ऐसा नहीं है कि यह मोक्ष चला जायगा तो हम रह जायेंगे। सब जीव मुक्त हों, हम भी मुक्ति प्राप्त करें। तो ऐसा वात्सल्य जगता है ज्ञानी के।

कर्मफलप्रीति तोड़कर कायरता हटा देने का संदेश—जिसने अपने स्वरूप की दृष्टि की वह कायर नहीं बनता। कायरता आती है विषयों के राग में। जो जीव विषयों में राग रखता है वह कायर है। जो जीव अपने स्वभाव में लीन होने का मार्ग बनाता है वह शूरवीर है। तो हे आत्मन्। तू क्यों कायर बन रहा ? तेरे स्वरूप में किसी पर का प्रवेश नहीं, तू डर भी मत और आशा भी मत रख। तेरे स्वरूप में जब दूसरा पदार्थ आ ही नहीं सकता तो तू तो निर्विघ्न है। तू विकल्प बनाकर क्यों कायर बनता ? जब तेरे में किसी परवस्तु का प्रवेश ही नहीं तो उससे सुख की आशा क्यों करता ? तू अपनी ज्ञानज्योति को उज्ज्वल रख। उससे ही आनन्द मिलेगा। किसी परद्रव्य से तेरा बिगाड़ नहीं और तू किसी परद्रव्य को भोगता भी नहीं। परमार्थतः तू अपने में अपने विकल्प को भोगता है, कर्मफल को भोगता है, कर्म को नहीं भोगता और कर्म में आने वाले फल को भी नहीं भोगता, किन्तु कर्म-फल का निमित्त पाकर जो तेरा उपयोग में छाया उमंग प्रतिबिम्ब हुआ है उस विकल्प को तो भोगता है, दूसरे पदार्थ को तू भोग ही नहीं सकता। तो समझ यह तो तेरे अधिकार की बात है। मैं अपने भीतर ऐसा साहस बना लूं कि मैं तो ज्ञानपरिणाम को ही भोगूंगा, मैं इस छाया को न भोगूंगा, इन परद्रव्यों को न भोगूंगा, इनसे मैं हटा हुआ ही रहूंगा ऐसा भीतर में परिणाम बना, यह तेरे अधिकार की बात है। तू कर्मफल को स्वीकार मत कर। जैसे यहां कोई प्रतिकूल बात कहता—अजी हम न मानेंगे, न स्वीकार किया, ये कर्म उदय में आ रहे, छाया हो रही, उसे तो हम रोक नहीं सकते, मगर मेरा ज्ञान है, मैं अपने ज्ञान में ऐसा बल करु; मैं इसे स्वीकार नहीं करता कि यह मैं हूं, और यह मेरा सर्वस्व है, ऐसा मैं नहीं मानता। मैं इस छाया से अलग हट जाऊंगा तो यह तो मेरे अधिकार की बात है कि मैं कर्मफल को स्वीकार न करु, समस्त कर्मफलों से दृष्टि हटा लूं, समस्त कर्मफलों के त्यागने से जो मेरी मेरे स्वरूप में विहारदृष्टि बनती है उसमें जो अविचल एक प्रतीति होती और आनन्द की अनुभूति होती, बस ऐसा ही समय मेरा व्यतीत होवे, इससे विरुद्ध कर्मफल में लगाव रखने वाला समय मेरा मत गुजरे, ऐसी ज्ञानी की एक भीतर उमंग होती है।

सर्वस्व शरण की उपलब्धि—जहां कर्मफल से दृष्टि हटी, अपने आपके चिद्ब्रह्म में 'यह मैं हूं' ऐसे अनुभवन की बात बनी उसको सर्व स्पष्ट रहता है कि यह हूं मैं चैतन्यप्रकाश, यह ही है चैतन्यचमत्कार। लोग कहते कि चमत्कार पर बहुत आकर्षण होता है। जैसे कोई जादूगर तास का खेल या कोई अन्य चमत्कार का खेल दिखाये तो उस पर लोगों का आकर्षण होता है। अरे ये बाहरी चमत्कार कोई कुछ नहीं, तू अपने चैतन्यस्वरूप में अपने ज्ञान को स्थिर तो कर। मैं चिन्मात्र हूं, ईमानदारी से स्थिर कर। भीतर जरा भी लगाव मत रख कि यह मेरा कोई है मित्र है, सम्बंधी है। यह मेरा कोई है ऐसा रंच भी लोभ मत कर और अपने में यह मैं चित्स्वरूप हूं, चैतन्य ज्योति मात्र हूं ऐसी दृढ़तम दृष्टि तो बने, बस यही है तेरा वह चमत्कार कि जिससे भव-भव के कर्म कट जाते हैं और सदा के लिए सारे संकट दूर हो जाते हैं। यही है चैतन्यचमत्कार, यही है मेरा सर्वस्व शरण। किस किसकी शरण में जाते, किस किसको अपना तन मन सोंपते ? बाहर में कौन है तेरा जो तेरी रक्षा कर देगा ? तेरी रक्षा तेरा ज्ञान ही कर सकता है, और कोई तेरा रक्षक नहीं, तेरी रक्षा तेरा सहज भाव ही कर सकता है और कोई तेरा रक्षक नहीं। तू अपने ज्ञान को अपने ज्ञान के स्रोत में ले जा ना, जहां से ज्ञान प्रकट होता। इस ज्ञान को वहीं ले जा तो

तूं निस्तरंग हो जायगा । यही है तेरा वह चैतन्यचमत्कार कि जिस चमत्कारके कारण समवशरण में अद्भुत आकर्षण बन जाता है । देखो समवशरण में जहां वीतराग जिनेन्द्रदेव जो इस चैतन्यचमत्कार के पूर्ण विकास हैं, विराजमान हैं, वहां इतना आकर्षण है कि स्वर्ग खाली हो जाता है, उनकी सेवा में सुर व सुरेन्द्र आते हैं, देव देवियां कैसा गान तान करके भावविभोर होते हैं । अरे यहां कोई मनुष्य किसी लौकिक बड़े का शरण ले तो कोई स्वार्थी ही समझेगा । मगर स्वर्गों के इन्द्र देव वे स्वर्गों को एकदम खाली कर यहां आते खाली तो नहीं होता, उनका मूल वैक्रियक शरीर वहां रहता, उत्तर वैक्रियक शरीर यहां आता, मगर जो जमघट लगता, बताओ किस बात पर वे आसक्त हुए ? वे एक वीतरागता पर आसक्त हुए । रागी पुरुष का सेवक कोई नहीं हो सकता, वीतरागता के सेवक अनेक होते हैं, तो वहीं वीतरागता मेरे स्वरूप में है उस स्वरूप की आराधना करें, यह ही अपने शरण का गहना कहलाता है । यही है मेरा सर्वस्व शरण ।

अखण्ड शुद्ध निर्विकल्प सहज चिद्रूप की स्वीकारता में विशुद्ध प्रसन्नता—अहा, यह हूं मैं शुद्ध सबसे निराला, एकत्व में रत, निर्विकल्प । जहां विकल्प का स्वभाव नहीं, केवल ज्ञानप्रतिभास चित्स्वरूप अखण्ड, प्रसन्न होता है ज्ञानी इस अपने निज सहज स्वरूप के ऊपर । अहा—यह चैतन्य भगवान आत्मा जो मेरे में अनादि से ही अन्त:प्रकाशमान था वह आज दिखा । कितना अपूर्व नया दिवस है, कितना अपूर्व क्षण है यह । जिस क्षण में इस ज्ञान को अपने ज्ञान के स्रोत का मिलन होता, उसे यह ज्ञानी स्वीकार करता है । ॐ ॐ, यह ही मैं हूं, यह ही रहूंगा । कर्मविपाक यदि इसको प्रेरित करते और बाहर में लगाते तो जैसे स्प्रिंग वाले किवाड़ जब तक खोले रहें तो खुले रहते और छोड़ दें तो अपने आप लगजाते, ऐसे ही जब तब कर्मविपाक की प्रबल प्रेरणा है, उपयोग बाहर रहता है निर्मल पद्धति से रहे लेकिन उमंग और उत्सुकता इसी ओर ही है कि मैं अपने-अपने इस ज्ञानसमुद्र में ही अवगाहन करूं । यह हूं मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप । बस इसका जिन्हें परिचय होता वे कायर नहीं होते । किसी भी स्थिति में । बाहर जो होता है होने दो । बाहर का बाहर में हो रहा है । मेरे से क्या मतलब ? मैं तो गुप्त अपने स्वरूप के मजबूत किले में पड़ा हुआ हूं, मेरे को किसी प्रकार की हानि नहीं । यह स्वरूप जिसने पाया वह अमीर है, पूज्य है, मुक्ति का पथिक है । सर्व कषायों के आग्रह को छोड़कर अपने को विनयरूप प्रवर्ता कर, अपने आपके स्वरूप में मग्न होने का पौरुष करना चाहिए ।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन दशम भाग समाप्त ॥

एकादश भाग

विकल्प लदे ही रहते हैं, ये क्षणभर को भी नहीं हटते। यदि ऐसी बेशरमाई इन विकल्प ने की है, तो देखो ये विकल्प आशा व तृष्णा के बल पर टिके हैं। तुम अपने को यहां का कुछ न समझकर इस तृणा व आशा को बिल्कुल खत्म कर दो, जरूर विकल्पविराम होगा, अपूर्व संतोष होगा, सो लो अब यही धुन बना लो कि किसी भी परपदार्थ व किसी भी नामवरी के सम्बन्ध को करना ही नहीं है, फिर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि की ही धुन का काम रहेगा। धुन में यही अन्त:परमात्मा··· यह विशुद्ध आनन्दमय प्रतिभास•••ॐ•••ॐ•••ॐ शुद्धंचिदस्मि।

विकल्पशमन के लिये धार्मिक विकल्प—जब जीवों को ज्ञान होता है कि मेरे को तो विकल्प ही कष्ट नाम की कोई वस्तु नहीं, तब वह बाह्य पदार्थ के लगाव को ढीला कर ही देता है। भला जब अपने से किसी अधिक दु:खी को देखता है, पशु पक्षी को था दु:खी मनुष्य को देखता है तो सहसा कुछ संतोष आता है ना। वह संतोष किसका ? यह भाव बनाते कि हम तो अच्छे। हमपर कोई गड़बड़ी नहीं है। जो गड़बड़ी थी और जो कुछ भी भ्रम था, जो बढ़प्पन की तृष्णा के भाव थे, विकल्प थे उनका शमन हुआ तो एक संतोष मिलता है। इसी सब अनुभव के बलपर जब इस जीव ने ज्ञान किया कि विकल्प ही कष्ट है तो उसका भाव बनता है कि यह विकल्प दूर हो और इस विकल्प के दूर करने के लक्ष्य से ही ६ आवश्यक कर्म बताये गए हैं श्रावक के और मुनियों के। श्रावकों के आवश्यक कर्म क्या हैं ? देवपूजा—भगवान की पूजा किसलिए करना कि मेरे विकल्प दूर हों उस निर्विकल्प भगवान के स्वरूप को निरखकर मैं विकल्प से मुक्त होने की उमंग पाऊं इसलिए देवपूजा है। देवपूजा एक शुभोपयोग में एक ऐसा प्रधान कर्तव्य है कि वहां वीतरागता के दर्शन से जहां पुण्यबंध है वहां भव-भव के कर्म कटने का भी कारण है। पूजा राग में नहीं होती, वैराग्य में नहीं होती, किन्तु कुछ राग है और अधिक वैराग्य है तो भगवान की पूजा बनती है। अगर किसी के राग ही राग हो तो वह तो विषयों में लगेगा। वह वीतराग के दर्शन में क्यों आयगा ? और किसी को वैराग्य ही वैराग्य है तो वह तो अपने आत्मा में समाधिभाव रखेगा, वह विकल्प में क्यों आयगा ? तो पूजा एक ऐसा कृत्य है कि जहां कुछ तो राग और अधिक वैराग्य—इन दो की स्थिति में वह भाव बनता है तो उस सम्बंध में जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है और जहां राग नहीं, जितने अंश में विरागता है उतने अंश में सम्वर निर्जरा है।

सराग सम्यग्दृष्टि का परिणाम आस्रव बंध संवर निर्जरा चारों का कारण—देखो एक बहुत मोटी बात है। चतुर्थ गुणस्थान में आस्रव, बंध, सम्वर निर्जरा चारों निरन्तर चलते हैं। ५वें, छठे, ७वें, १०वें तक आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा निरन्तर चलती है, इससे ऊपर आस्रव है वह ईर्यापथ कहलाता है। तो खैर यहां रागदशा तक की बात देखो। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर १०वें गुणस्थान तक प्रतिसमय चारों चीजें चलती है, ग्रन्थों में देखो करणानुयोग का अध्ययन करो जहां स्पष्ट उल्लेख है। सरागदशा में कोई स्थान ऐसा नहीं जहां केवल बंध हो या केवल सम्वर हो। तो प्रत्येक समता के परिणाम में आश्रव, बंध, सम्वर निर्जरा चारों चलते हैं तब स्वानुभव कर रहा है यह जीव, जब यह ज्ञानी ज्ञानानुभव कर रहा है उस समय भी चारों ही चल रहे हैं। तो परिणाम एक है और आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा चारों ही चलते हैं। चाहे सम्यग्दृष्टि किसी विषयों के प्रसंग में लगा हो वहां भी चारों चलते हैं, चाहे वह पूजा आदिक शुभ कामों में लगा हो, वहां भी ये चारों हैं और चाहे स्वानुभव में लगा हो वहां भी चारों हैं, यह तो स्पष्ट बात है। अब यह समझो कि उस समय का परिणाम जब चारों का हेतु बन रहा है तो इसमें क्या वजह है कि वही परिणाम आश्रव बंध का कारण है। वही परिणाम सम्वर निर्जरा का कारण है। परिणाम तो एक समय में एक है। हो रहे चारों तत्त्व। इसमें तो जरा भी संदेह नहीं। यह तो करणानुयोग का

स्पष्ट उल्लेख है, तो वहां यह बुद्धि लगाना होगी कि उस एक समय के परिणाम में भी जितने अंश में राग है उतने में तो बंध है और जितने अंश में राग नहीं है उतने अंश में सम्वर निर्जरा है। तो पूजा का परिणाम तो विषयभोगों के प्रसंग से बढ़कर परिणाम है, घटिया तो नहीं है। जब ज्ञानी सम्यग्दृष्टि कभी विषयप्रसंग में रहे वह परिणाममें भी उन समय भी आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा चारों होते हैं। तो पूजा में क्या संदेह करते कि वहां बंध ही बंध है, सम्वर निर्जरा नहीं। बहुत भीतर सोचने की बात है। हां उसमें पुण्यबंध भी है और कर्मनिर्जरा भी है। दोनों के होते हुए भी एक बंध बंध की बात कहना, इसमें क्या अभिप्राय हो सकता है सो भी समझ लो और समय की बात है। जब कोई जीव केवल पूजा के व्यवहार में ही रहता है तो उसको डांटना चाहिए कि तुम व्यवहार में ही मत रहो, यह तो बंध का हेतु है, और कोई पुरुष पूजा से अलग ही रहता है तो उसे यह उपदश दें कि जरा पूजा तो करो, इससे कर्म कटेंगे। जब एक भाव दोनों बातों का कारण है—बंध का भी, निर्जरा का भी तो जुदे-जुदे पात्र के लिए जुदी जुदी बात है। सबको एक ही लाठी से हांकने की बात जीवों के अकल्याण की है।

व्यवहार धर्म की प्रक्रिया में परिणाम के अनुसार आस्रव बंध संवर व निर्जरा—हां तो जब जीव को यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो उसकी यह धुन बनती है कि मैं विकल्पों से हटूँ और इसी प्रयत्न में वह पूजा करता है, इसी प्रयत्न में वह गुरु की सेवा करता है। यदि किसी साधु संत की बड़े विनय से कोई सेवा कर रहा हो तो उस सेवा के सम्बंध में भी यह जानें कि केवल बंध है। बंध भी है, निर्जरा भी है। जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है और जितने अंशों में राग नहीं है उतने अंशों में सम्वर निर्जरा है, यह उल्लेख है, एक ही परिणाम के समय। जैन सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है कि यदि कोई पक्ष न रखे तो किसी भी जगह विवाद नहीं रहता है, और ठीक सही मार्ग से चलकर अपने निर्वाण का लाभ पा सकते हैं। हां तो स्वाध्याय भी विकल्प दूर करने के लिए है। देखो विकल्प चल रहा है, मगर लक्ष्य विकल्प दूर करने का है और स्वाध्याय के समय भी राग और वैराग्य। दो का समन्वय है—देव, स्वाध्याय, संयम, इसी प्रकार संयम की बात है—हिंसात्याग, झूठ का त्याग, चोरी, कुशील परिग्रह त्याग, इस तरह की जो प्रवृत्ति है वह प्रवृत्ति भी मात्र राग से नहीं, और मात्र वैराग्य से भी नहीं। राग और वैराग्य दोनों का वहां समन्वय है, तो उस संयम के समय भी जितने अंश में राग है उतने अंशों में बंध है और जितने अंशों में राग नहीं उतने अंशों में बंध नहीं। संयम, तप और त्याग, दान, इनमें भी यही बात है। कोई पुरुष तप करता है इच्छा का अभाव, तो इच्छा के अभाव में तो निर्जरा ही निर्जरा है, फिर भी इच्छा के अभाव के पौरुष में जो बाह्य तन, मन, धन, वचन का प्रवर्तन है वह कुछ रागांश को लिए हुए है। वहां भी जिन अंशों में राग है उनमें बंधन है और जिन अंशों में राग नहीं उनमें बन्धन नहीं। दान में भी यही बात है। दान में भाव रहता है कि मेरा ममत्व मिटे। अब विकल्प का संघर्ष मेरे को न रहे, तो निर्विकल्प भाव में वहां लाभ है और फिर भी थोड़ी प्रवृत्ति होती है तन, मन, वचन की वह तो हुआ एक रागांश और वैराग्य उसमें बहुत भरा हुआ है। न हो वैराग्य तो कोई त्याग कैसे कर सकता है ? तो हर इस व्यवहार धर्म में यह निर्णय रखना कि जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है और जितने अंश में राग नहीं उतने अंश में बंध नहीं। जब आचार्य संतों ने चरणानुयोग से, करणानुयोग से सब उपदेश दिया है तो वह उपदेश बेकार नहीं है। उनमें विवेक बनायें और एक अपने में सही निर्णय बनाना चाहिए।

विकल्पों की जिन्दगी के आधारभूत आशा और तृष्णा के विलय में विकल्पों का विलय—हां तो जब यह जीव ज्ञान करता है, तब इसकी धुन बनती है कि मैं विकल्प से छूटूँ, मगर अब मोड़ लाइये। देखना सबमें भारी विकल्प लदे ही रहते हैं। कोशिश तो बहुत करता हूं कि विकल्पों को दूर फेंककर आराम लूँ, किन्तु ये विकल्प ऐसा बेशरम होकर मुझपर लद रहे हैं कि अगर किसी मनुष्य को दुतकारे तो वह कभी निकट न आयगा, मगर

इसको दुतकारते हुए पचासों गालियां देते, फिर भी ये विकल्प मुझपर लदे रहते हैं, ऐसा बेशरम बनकर यदि ये मुझपर लदते हैं तो उद्दण्ड मत हो विकल्प ! मैं अब घबड़ाता नहीं हूं। मैंने भी तुमको हटाने की कुञ्जी पा ली है। तुम इसी बात पर तो लदे हुए हो, जब मैं कभी आशा और तृष्णा का विकल्प रखता हूं तो इस विकल्प की जिन्दगी की कुञ्जी है आशा और तृष्णा ! मैं परपदार्थों को पर जानकर, उनसे हटकर अपने निज ज्ञानस्वभाव में आने का बल करुंगा और इन विकल्पों का विनाश करुंगा, ऐसा यह ज्ञानी अपने चित्त में उमंग रखता है। वह जानता है कि ये विकल्प आशा और तृष्णा के बलपर टिके हैं। देखो जो कोई साधु होता है, श्रावक क्षुल्लक, मुनि संत ये साधक ही तो हैं, ये निर्दोष नहीं होते, निर्दोष हों तो फिर साधना क्यों करें ? कुछ कमी है, दोष हैं। तब ही तो साधना में लगे हैं। तो यह समझना चाहिये कि साधक दोषवान होता है, गुण उसमें अधिक होते हैं, निर्दोष नहीं होता। तो हम कभी इस दृष्टि से साधक को न देखें कि इसमें यह दोष, इसमें यह दोष। अरे दोष तो उसमें है ही, तभी वह साधक बनता है, पर उन दोषों को मिटाने का भाव है या नहीं, यह परीक्षा करें। अगर रहने वाले दोषों को दूर करने का भाव बनाता है तो साधक है और अपना आदरणीय है, आस्था के योग्य है। तो यह विकल्प लदता है। बहुत-बहुत इसका तिरस्कार करने में फिर भी ये लदे रहते हैं। तो आशा और तृष्णा के व्यापार में ही ये विकल्प टिका करते हैं। हां तो हम क्या करें अपने को ? यहां का न कुछ समझें। देखो अपनी भलाई का मार्ग मिलेगा अपने को अकिञ्चन और सर्वस्व समझने में। अपने को समझो कि मैं अकिञ्चन हूं। यहां मेरा कुछ नहीं बाहर मेरा कुछ नहीं। तभी तो कोई कोई दार्शनिक इस आत्मा का शून्य के रूप में आराधना करते हैं। मैं शून्य हूं, खाली हूं। जैसे किसी घर में कोई आदमी न रहे तो कहते कि यह मकान खाली है, इसी तरह आत्मा में कोई दोष न रहे तो उसे खाली आत्मा कहते हैं। तो कई दार्शनिक आत्मा का शून्य के रूप में आराधना करते हैं। सो दोष नहीं लेकिन जब एकान्त हो जाता है कि यह तो सर्वथा शून्य है तो दोष हो जाता है। स्याद्वाद एक ऐसा अनोखा सहारा है कि जिसके सहारे से हम निर्विवाद होकर ज्ञान में आगे बढ़ सकते हैं। तो ऐसा समझें कि यहां मेरा कुछ नहीं ऐसा जानकर आशा और तृष्णा को समाप्त करदें और विकल्प का विराम हो जायगा। एक विकल्प हटायें, दूसरा विकल्प करके उसे भी हटायें, अन्य विकल्प करके उसे भी हटायें। तो यों विकल्पों का विराम न हो पायगा। किन्तु सर्वसे विविक्त अपने आपके एकत्व में गत निज शुद्ध सनातन चैतन्य स्वरूप में 'यह मैं हूं' ऐसा निर्णय रखकर अपने में मग्न हों तो विकल्प सब दूर हो जायेंगे। जब विकल्प दूर हों तो अपूर्व संतोष मिलता है।

निर्विकल्प होने की धुनवाले को निर्विकल्प होने के अवसर की संभवता—बस अब यही धुन बनालें कि मेरे को इस जीवन में निर्विकल्प होने का ही काम है, अन्य काम मेरे लाभ के लिए नहीं। किसी भी परपदार्थ में किसी भी नामवरी के सम्बन्ध से करना मेरा कार्य नहीं। मोटी बात यह है कि देह से अलग हुए कि सब कुछ यहीं रह जायगा। कुछ मेरे साथ नहीं जाता। जैसे मानलो कि ५ वर्ष का जीवन है तो ५ वर्ष बाद तो फैसला होगा कि नहीं ? यहां से जायेंगे तो यहां का सब कुछ यहीं रह जायगा। यह आत्मा कहां गया ? नया भव पाया। वहां का नया वातावरण मिला। नई बात करने लगा तो यह कुछ काम देगा क्या ? तो जरा दया करके जो ५ वर्ष का मनुष्य जीवन है तो इस जीवन में सर्व बाह्य समागमों का त्याग कर, परिहार कर ज्ञान बनाकर उससे निराले रहकर यहां ही कुछ अपना अभ्यास बना लें ना तो आगे भी यह काम देगा और इस जीवन की पुरिया पूरा पूरते ही रहेंगे तो आगे कुछ लाभ न मिलेगा। एक जुलाहा भी तो कपड़ा बुनते बुनते आखिर चार पांच अंगुल का छीरा अन्त में छोड़ ही देता है, पर यह मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम दो चार मिनट भी इन विकल्पों का ताना-बाना बुनना बन्द नहीं करता है। अब और विशेष समय की बात तो छोड़ो कि भाई वर्षों तो व्यतीत करें वैराग्य में, मगर यह तो अन्तिम समय भी नहीं छोड़ता तो भला क्या होगा ? यह ही बुद्धिमानी है कि यहां जितना जल्दी हो सके उतना

जल्दी सर्व कुछ निर्णय बनाकर निर्विकल्प होने का वातावरण बनायें। हां तो जब एक यह निर्णय बन गया कि मेरे को इस लोक में करने का अन्य कुछ काम ही नहीं है तो उसकी धुन बनेगी कि मुझ को तो ज्ञातादृष्टा रहना है, ज्ञानमात्र रहना है। बस यही मेरा कर्तव्य है। जिसकी जिसको धुन रहेगी उसको वह बात मिल जायगी।

आत्मा की मनोरथधामता—यह आत्मा एक कल्पवृक्ष की तरह है। जो चाहे सो मिलेगा। अब भी यही बात है। लोग तो व्यर्थ ही हैरान होते कि हम चाहते हैं और मिलता नहीं है। हम एक वस्तु की बात कह रहे। हम एक साधारण बात कह रहे, जो चाहें सो होगा। यदि आप शरीर चाहते हैं कि बड़े अच्छे शरीर खूब मिलते रहें तो आपको ये शरीर जन्म जन्म में मिलते चले जायेंगे। लो इससे बढ़िया आपको क्या होगा? आप शरीर चाहते हैं तो शरीर आपको भव-भव में मिलेंगे, और आप यदि ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व चाहिये तो यह भी प्रकट हो जायगा। आत्मा जो विचारे, जैसी बुद्धि बनाये वैसा उसका काम होगा। एक छोटी सी कहानी है कि बहुत तेज गर्मी में एक मुसाफिर कहीं जा रहा था। ऊपर धूप, नीचे धूप, नंगे पैर, बड़ा विकल था। तो उसने सोचा कि कोई मार्ग में पेड़ मिले तो मैं वहां ठहर जाऊं। मिल गया एक बड़ का पेड़। वहां जाकर ठहर गया। वह था कल्पवृक्ष। इसे कुछ पता नहीं। पेड़ के नीचे पहुंचा तो सोचा कि अहा छाया तो बड़ी अच्छी है, जरा हवा और चल जाय तो आनन्द आ जाय। लो हवा भी चलने लगी। फिर सोचा कि हवा तो चल गई अब तो अगर ठंडा पानी मिल जाता तो कितना अच्छा होता? लो सामने पानी भी हाजिर हो गया। वह बहुत खुश हुआ। फिर सोचा कि अगर कुछ फल होते तो बड़ा अच्छा होता, लो एक थाल में फल भी हाजिर हो गए। वह बहुत खुश हुआ, मगर सोचा कि यह सब हो कैसे रहा है? यहां कोई भूत तो नहीं है जो यह सब कर रहा हो? लो भूत भी सामने हाजिर हो गया। फिर सोचा—अरे कहीं खा न जाय, तो लो खा भी गया। तो यह आत्मा सचमुच कल्पवृक्ष है। खोटे भाव करेंगे तो खोटा फल मिलेगा, अच्छे भाव करेंगे तो अच्छे के अनुकूल पायेंगे सब कुछ। यहां छोटी-छोटी बातों को न लेना कि मुझको इतना लाभ न हुआ, इतना लाभ हुआ। साधारण बात कह रहे हैं, परवस्तु में दिल लगायेंगे तो परवस्तु का संग मिलता रहेगा। अब अनुकूल मिले, प्रतिकूल मिले, कुछ मिले, यह भेद नहीं डालते, मिलेगा जरुर। अगर परसंग न चाहेंगे तो नि:संग हो जायेंगे। तो ऐसा यह मैं विशुद्ध ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व जो अपने अन्त:प्रकाशमान है उसकी धुन रखेंगे तो वह हो न सकेगा क्या?

सर्व जीवों में स्वरूपसाम्य की दृष्टि होनेपर विनय की उद्भूति—देखो विषमता की बात। हम चाहते तो हैं अपने अन्तर में जो विशुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व है उसकी उपासना करें। और जब हम बाहर दृष्टि डालते हैं तो इस ज्ञानमात्र तत्त्व के पथिक जो व्रती साधु संत हैं उनसे घृणा करते हैं तो कितनी गजब स्थिति हो गई? कहां रहा वह लक्ष्य का ध्यान? अरे प्राणिमात्र में सहज परमात्मतत्त्व को देखकर उनमें विनय आनी चाहिए। देखो एक पौधे के अंकुर को देखो और वहां भी यह समझो कि इसमें जीव है और यह प्रभु के समान ही अपना चैतन्यस्वरूप रखता है, उसे छेड़ें नहीं, यह तो हुई उस अकुर की विनय। विनय तो ज्ञानी की हर प्रवृत्ति में रहती है। अगर कीड़ा मकोड़ा चला जा रहा है ओर हम उसको बचाते हैं तो यह है उस कीड़े की विनय। विनय के अनेक ढंग होते है, क्योंकि उस ज्ञानी की दृष्टि में यह है कि यह भी जीव है, चैतन्यस्वरूप है, इसमें भी प्रभुता है, इसको संक्लेश न हो जाय। तो यह अपनी प्रभुता पाने के विपरीत विशिष्ट कर्मबन्ध कर डाले, ऐसी कुछ करुणा भी जगी है ज्ञानी की, और वह प्राणियों की रक्षा कर रहा तो वह विनय है। छोटे की भी विनय, बड़े की भी विनय और गुरुवों की भी विनय। विनय ज्ञानी से सर्वत्र बनती है। विनय बिना रहता नहीं ज्ञानी, वह कभीं उद्दण्ड नहीं होता। जहां उद्दण्डता है वहां ज्ञान नहीं है, जहां ज्ञान है वहां उद्दण्डता नहीं। अरे तुम अपना काम निकालो, व्यर्थ में समय न खोवो। बाहर में बहुत बहुत कसरत करके क्या लाभ मिलेगा? किसी का बुरा विचारना, घृणा करना, व्यवहार का लोप

करना, परम्परा मिटाने के लिए कमर कसना यह कितना बड़ा संक्लेश है ? इनमें क्यों रहा जाय ? अरे सदाचार का पालन करो और भीतर में सम्यग्ज्ञान ज्योति की आराधना करो। और कुछ काम है क्या ? ऐसी ज्ञानाराधना करने वाला पुरुष बाहर में जब इन ज्ञानमूर्तियों को देखता है, सब जीव ज्ञानमूर्ति ही तो हैं, तो वहां भी अपनी अपनी पदवी के अनुसार उनके प्रति नम्र रहता है। झुको तो उस ओर झुको। झुकोगे तो मिलेगा और न झुकोगे तो न मिलेगा। अपने अन्तःस्वरूप में झुकोगे तो स्वरूप मिलेगा और स्वरूप से अलग रहकर बाहर-बाहर ढूंढोगे तो स्वरूप न मिलेगा। बड़े-बड़े पेड़ हवा में खतम हो जाते हैं। और नदी के किनारे रहने वाले छोटे-छोटे अंकुर वे खतम नहीं होते। बड़े पेड़ों में नम्रता नहीं, कठोरता है, उन पेड़ों में नम्रता है। नम्रता एक इतना महान गुण है कि इसके बिना आप विद्यालाभ भी नहीं कर सकते, ज्ञानलाभ भी नहीं कर सकते। छोटे से छोटे मनुष्य से भी आप कोई कला सीखने चलेंगे तो उसके प्रति अहंकार रखकर उससे कुछ न सीख सकोगे। तो अपने जीवन को नम्र बनाकर, गुणों के प्रति प्रीति बढ़ाकर अन्तः झुको, अन्तस्तत्त्व की दृष्टि कीजिए, यही है अन्तः परमार्थ तत्त्व तो समाधान संतोष शान्ति में जो अपने आपके स्वरूप का अनुभव बनता है यही है अन्तः परमात्मा। यही है विशुद्ध आनन्दमय प्रतिभास। यही है आनन्द का रूप। तो हम अपने स्वरूप को निरखकर प्रसन्न हों, स्वीकार करें कि यह ही मैं हूं। ॐ···, यह ही मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। अपने को ऐसा विशुद्ध चैतन्यस्वरूप में अनुभव करें और इसकी आराधना में हमारा समय व्यतीत हो, यह ध्यान सदा रखें। परिस्थिति हो कुछ, मगर ध्यान रखें उसमें इस ज्ञानतत्त्व का। जैसे आप काम तो सब करते हैं, पर अपने नाम का ध्यान जरुर बनाये रहते। किसी ने धीरे से भी नाम ले लिया तो झट वहां कान पहुंच जाते। नाम की प्रतीति जैसे नहीं मिटती सब कामों के करते हुए भी, ऐसे ही व्यवहार में जो कुछ करना पड़ रहा उन कामों के करते हुए भी मैं ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूं, यह प्रतीति न मिटे तो अवश्य ही कल्याण हो जायगा।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन एकादश भाग समाप्त ॥

द्वादश भाग

आत्मन् ! परपदार्थ की आशा तृष्णा करके कितनी तकलीफ अपने को दे रहे हो, थोड़ा भी चैन नहीं लेते, दिल बोझल बनाये रहते, मरण तक की भी शंका बनी रहती । यदि सबकी आशा तजने में, कुछ भी अपने को न चाहने में, बाह्य इज्जत में, अपने को अति गरीब बनाये रहने में कुछ तकलीफ भी हो तो उसे मंजूर कर लो, सह लो तो सारी तकलीफ, सदा के लिये खत्म हो जायगी । फिर तो तकलीफ के एवज में विशुद्ध ज्ञानज्योति के अनुभव का आनन्द बह उठेगा । अनुभव में रहेगा यह साम्यरसपूरित सहज ज्ञानसामान्य अखंड चित् प्रतिभास··· ॐ···ॐ··· ॐ···तत् सत् शुद्धं चिदस्मि ।

आत्मा में कष्ट आने का कारण स्वयं का विकल्प—जब यह आत्मा अमूर्त है, आकाश की भांति और है ज्ञानमय तो ज्ञानस्वरूप अमूर्त आत्मा को न कोई पीट सकता, न कोई पकड़ सकता, न इसमें कोई गड़बड़ कर सकता, फिर क्या वजह है कि यह आत्मा बहुत बहुत तकलीफ पाता रहता है ? तथ्य यह है कि बाहरी चीजें इसको तकलीफ तो नहीं पहुंचातीं, किन्तु कर्मोदय का निमित्त पाकर यह जीव उपचरित निमित्तों में उपयोग जोड़कर जो अपने में विकल्प की सृष्टि करता है उन विकल्पों के कारण यह आत्मा खुद अपने आपको तकलीफ दे रहा है । इसको कष्ट देने वाला जगत में कोई भी दूसरा पदार्थ नहीं है । हां इतनी बात अवश्य है कि कष्ट में कर्मविपाक निमित्त है और हम ही खुद बाहरी पदार्थों को निमित्त बनाकर उनमें उपयोग जोड़कर जो कि उपचरित निमित्त है, बहिरंग साधन हैं, विषयभूत पदार्थ हैं, उनके बारे में कल्पनायें कर करके हम स्वयं अपने को तकलीफ दे रहे हैं । जैसे सांप अपने आप ही अपने को गोलमटोल गुन्डरी बना लेता है, इसी प्रकार यह जीव अपने आपको अपने विकल्प से तकलीफ दिया करता है । उसमें कारण क्या है ? विकल्प, विकल्प भी क्या ? आशा और तृष्णा । इन विकल्पों से यह जीव अपने को कष्ट देता है । उस कष्ट में थोड़ा भी चैन नहीं ले पाता । देखो स्वाध्याय का अर्थ है कि प्रत्येक वचन को अपने आपपर घटित करना और अपने लिए जिसमें कल्याण का मार्ग मिले उसको अपनाना । सभी जान रहे हैं कि इस विकल्प में हम थोड़ा भी चैन नहीं ले पाते । रात दिवस कल्पनायें कर करके अपने को चैन से अलग रखते हैं और होता क्या है कि ओझल बना रहता है । लड़का विपरीत चले उसके दिलपर बोझ लड़के का बोझ नहीं होता, आत्मा में लड़का नहीं बैठ पाता, किन्तु लड़के के बारे में जो कल्पना बनाया, मैंने तो ऐसे ऐसे कष्ट सहकर पाला पोषा और यह मेरे यों विपरीत चल रहा है, यों विकल्प बनाकर दुःखी होता तो क्या दिल को बोझल बना लेते हैं ? खूब देखलो अपना भी, दूसरे का भी, ग्रहस्थी में भी अगर कोई महिला दुखी है तो देवरानी, जेठानी, सास किसी का भी विकल्प बनाकर दुःखी हो रही । अरे घर में दोनों वक्त रसोई बनती, सब ठीक काम हो रहा, खायें, पायें, आराम से रहें, लौकिक दृष्टि से क्या क्लेश, मगर दिल में अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं और सम्मान अपमान का ख्याल करते हैं और सम्मान अपमान का ख्याल करते हैं और रात दिन झगड़े चलते हैं । जहां सुमति तहं सन्मति नाना । जहां कुमति तहं विपत्ति निधाना ।। अपनी कुमति बनाते हैं और रात दिन दुःखी रहते है । यह ही बात घर में है, यही वात समाज में है, यही बात देश में है, यही विश्व में है । जहां कुबुद्धि जगी वहां विपत्ति ही विपत्ति है । तो कौन तकलीफ देता है हमको ? हमारी कुबुद्धि, हमारा विकल्प । यह ही हमको कष्ट देता है । इससे दिल बोझल बना रहता है । और तो जाने दो, मरण तक की शंका बन जाती है । लोग जानबूझकर जो आत्महत्या करते हैं तो क्या भूख से परेशान होकर आत्महत्या करते हैं या कोई कष्ट से करते हैं ? बात बात हुई विकल्प चले, झगड़ा चला और उसी विकल्प में कोई कुवें में गिरकर मर गया, कोई रेलगाड़ी में कट गया तो किसने ऐसी हालत कराया ? क्या किसी दूसरे पदार्थ ने ? खुद ही विकल्प किया, और इस तरह के संकट खुद मोल ले लेते हैं ।

इच्छानिरोध के बल से सकल संकटों के विनाश करने का अनुरोध—देखो भाई संकट तो बहुत सहे। अब देखो जो संकट सहे उन संकटों के सामने न कुछ संकट है। जिसकी बात कह रहे हैं वह उपाय करो। क्या ? सबकी आशा तज दें, आप कहेंगे कि इसमें तो हमें कष्ट मालूम होता है। अरे आशा कर करके और दूसरों के प्रतिकूल अनुकूल विकल्प बनाकर जो यावत् जीवन कष्ट सहे क्या उनसे भी ज्यादा कष्ट है कि अपने भीतर ज्ञान-प्रकाश पावें और आशा को छोड़ दें तो ऐसा सोचने में थोड़ा ज्ञान का संयम करना पड़ता है, और उसमें कुछ कष्ट होता है तो वह कष्ट कुछ नहीं। उसको बरदाश्त कर लें। और भी देखो, कुछ भी अपने को न चाहने में क्या तकलीफ मालूम होती ? मेरा कोई यश न गाये, कीर्ति न गाये, प्रशंसा न करे, बड़ाई न करे तो उसकी तुम चाह ही करो मत। हां इस चाह के त्याग करने में थोड़ा ज्ञानबल बढ़ाना पड़ता और उसमें कुछ श्रम और कष्ट होता है। अच्छा तो यह कष्ट क्या जगत् के जो और कष्ट सह रहे हैं उनसे बड़ा है ? अरे नहीं। साधारण तकलीफ होती हो व्रत में, संयम में, तप में, अपने को नियंत्रित करने में, तो उसे मंजूर कर लें, नहीं तो संसार का महाकष्ट सहना पड़ेगा। अच्छा बाह्य इज्जत में अपने को कोई अत्यन्त गरीब बनाये रहे तो इसमें कोई कष्ट मालूम होता क्या ? कैसी दुनिया में लोगों की बड़ी इज्जत चल रही है। इज्जत क्या, स्वार्थी लोग उनकी प्रशंसा कर दें, इसी का नाम इज्जत है। असली इज्जत तो आत्मा को अपना स्वरूप दिख जाय और उस ही में मग्न रहे और चाहे सारा जहान निन्दा करे तो भी उसकी असली इज्जत हुई और सारा लोक प्रशंसा करे और भीतर में मलिन परिणाम हो तो उसकी सारी बेइज्जती है। कौन करेगा बेइज्जती ? उनकी करतूत, उनके कर्म। तो देखो इस जगत में सब जीव अपने अकेले ही जिम्मेदार हैं। कोई किसी का साथी नहीं है, तो अपनी जिम्मेदारी जानकर कुछ जरा अपने को सावधान बनावें, स्वच्छन्द न बनायें, उद्दण्ड न बनायें, जैसे हमारे सहज ज्ञानस्वरूप में प्रवेश बने वह करतूत करें। तो यदि बाहरी लोगों के यश देखकर हम यश जरा भी न चाहें और ऐसा यश हमारा जरा भी नहीं हो रहा, उस यश की वजह से हम अत्यन्त गरीब हैं। तो ऐसा बने रहो, उसमें यदि थोड़ा कष्ट होता है तो वह कष्ट मंजूर कर लो, अन्यथा जगत् के इन रागद्वेष की ज्वालावों के, ८४ लाख योनियों में नाना देह धारण करने के महान कष्ट सहने पड़ेंगे।

व्यवहार धर्म से अपने पात्र बनाकर निश्चयधर्म में प्रगति करने का कर्तव्य—हम अपना जीवन कैसा बनायें ? अन्तर में तो हम ज्ञान के विकास में बढ़ते चले जायें, अपना ज्ञान करें, सर्वप्रकार के वस्तु के स्वरूप का समझें और तन, मन, वचन की प्रवृत्ति संयत बनायें, इसे उद्धत न बनायें, दूसरे जीवों को देखकर यथायोग्य तन से, मन से, वचन से विनय करना, दु:खियों को देखकर उनके दु:ख को दूर करने का कुछ प्रयत्न करना। आप कहेंगे कि इससे हमें क्या मतलब ? दूसरा दु:खी होता है तो उसका परिणमन उसमें है। उससे मेरे को क्या बाधा आती है ? क्यों उनका दु:ख दूर करना ? बाधा यह आती कि जब तक रागभाव है और जब तक घर में पुत्र, वैभव आदिक से राग चल रहा है ऐसी स्थिति में दूसरे जीव को दु:खी देखकर करुणा का भाव नहीं आता तो समझो कि वह निर्दय पुरुष है। यहां घर में तो पुत्रादिक से मोह बनाते हैं और बाहर के जीवों को देख देखकर उनमें दया का भाव नहीं आता तो इसका अर्थ क्या है ? दूसरी बात यह ख्याल भी न आयी इसे कि मेरे ही समान चैतन्यस्वरूप वाला यह जीव हैं। इसकी भी सुध उसे नहीं हुई तब ही तो इतनी निर्दयता आयी, तो तन से दूसरे दु:खियों को देखकर उनका दु:ख दूर करने का पौरुष करना, देखो ऐसे सत्कार्यों से यह जीव व्यसनों से बच जाता है, पापों से बच जाता है। दुखियों के उपयोग करने से जिसे निष्काम कर्म बताया है उसमें भी एक अलौकिक प्रकाश मिलता है। तन से, मनसे, वचन से दूसरों का विनय बनावें। दूसरों के गुणों को देखकर मन में हर्ष मानें ऐसा हमारा बाह्य व्यवहार बने। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह इन पापों से अलग हों, व्यसनों से निवृत्त हों और भीतर में अपने आपके ज्ञान के विकास

में प्रगति बनावें। व्यवहारविरुद्ध रखकर ज्ञान की प्रगति न बन सकेगी। व्यवहार को अनुकूल रखकर ज्ञान की प्रगति करेंगे तो उसमें सफलता पा सकेंगे। तो क्या करना ? अपने को संसार के संकट न रहें उसके लिए उद्यम करना है। हम किस जगह बैठे हैं ? हम १२वें गुणस्थान में नहीं हैं और श्रेणी में भी नहीं हैं, और अप्रमत्त दशा में भी नहीं हैं। एक इस स्थिति में पड़े हैं जहां दिन भर कितनी ही प्रकार के रागद्वेष मोह उठा करते हैं, कषायें जग जाती हैं, ऐसी स्थिति में हमको व्यवहार धर्म में चलकर निश्चय धर्म की प्रगति में लगना होगा। हम उद्दण्ड होकर केवल बात कह-कर निश्चय का विकास नहीं कर सकते। आचार्य संतों ने चार अनुयोगों में जो कुछ बताया है वह बेकार नहीं है। सबका एक आत्मा को प्रगति में ले जाने का उद्देश्य है।

प्रभुभक्ति व आत्मध्यान द्वारा ज्ञानोपासना का कर्तव्य—अपने को संसार संकटों से बचाने की भावना हो तो बस अपने से नाता रखें, प्रभु के स्मरण में रहें। दो ही तो काम हैं—प्रभुभक्ति और आत्मध्यान। जितने भी और प्रसंग होते हैं, सत्संग है, और भी धार्मिक आयोजन हैं उन सबका उद्देश्य है प्रभुभक्ति और आत्मध्यान। आत्मध्यान मुख्य है, प्रभुभक्ति साधन है, तो क्या करना ? सं मी जीवन बनाकर अपने आप में ज्ञानस्वरूप का विकास करना, असंयत प्रवृत्ति रखकर ज्ञानस्वरूप की प्रगति नहीं बनती। तो गृहस्थ जन क्या करें ? अपनी शक्ति अनुसार जो ६ आवश्यक कर्तव्य बताये हैं—देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, तप, दान इनको करते हुए ज्ञान में बढ़ें क्योंकि जब एक परिग्रह का कीचड़ लगा है और गृहस्थी का जीवन बना है तो उसका कैसे उपयोग करना वह इन ६ आवश्यकों में बताया है। सद्व्यवहार से चल कर ज्ञान को अपने ज्ञानस्वरूप में लगावें। भैया! ध्यान यह रखें कि मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं, जो दूसरे से मेरे में बोझ आये। बोझ आता है मेरे में मेरे विकल्प से, अज्ञान से। उस अज्ञान को छोड़ें और ज्ञान का आदर करें। सीधी बात है अपने को अपने में ऐसा निहा-रने का पौरुष बनायें कि मैं ज्ञान ज्ञान ही हूं। अमूर्त—जहां रूप न मिलेगा, रस नहीं है, गंध स्पर्श नहीं है, शब्द नहीं है, आकाश की तरह अमूर्त है, आकाश कहीं बंधता नहीं, हंसता नहीं। यह मैं आत्मा बंध जाता, फंस जाता, क्योंकि विकल्प उठाता और फंस जाता है।

राग मोह विकल्प से उलझनों का उद्भव—एक अहाने में कहते हैं कि जो बोले सो बिबूचे। बोले का अर्थ मुख से बोलना ही नहीं किन्तु मन से राग करना, मोह करना यह बात बने तो भी उल्झन में आ जाता है। उल्झन की जड़ है राग और मोह। एक राजा था, सो जंगल में पहुंचा संन्यासी के निकट, थोड़ी देर में संन्यासी ने आंखें खोलीं तो राजा बोला—महाराज प्रणाम, संन्यासी बोला—कहो राजन्, क्या चाहते हो ? तो राजा बोला—मेरे बालक नहीं है सो एक बालक चाहता हूं। ··· अच्छा तथास्तु। राजा बड़ा खुश होकर घर आया। कुछ भी किया हो। कुछ दिन बाद उस संन्यानी को यह चिन्ता हुई कि मैंने राजा को वचन दिया और इस समय कोई संसार में जीव नहीं मर रहा, कौन जाय रानी के पेट में ? खुद मरें और चलें रानी के पेट में ताकि हमारी बात गलत न हो जाय। तो अब रानी के पेट में पहुंचा तो गर्भ के तो महान् दुःख, बड़े कष्ट, तो वह सोचता है कि ओह बोले सो बबूचे, मैं बोल गया राजा से इसलिए मुझे रानी के पेट में आना पड़ा, तो सोचा कि मैं पैदा हो जाऊंगा तब कभी बोलूंगा नहीं। वह पैदा हुआ, बड़ा हो गया पर बोले नहीं, राजा को बड़ा दुःख हुआ कि बच्चा तो मिला पर गूंगा मिला, तो उसने अपने राज्य में घोषणा करा दी कि मेरे बालक को जो बोलना बतायेगा उसको बहुत इनाम मिलेगा। तो एक बार वह राजपुत्र बाग में विहार कर रहा था। वहां एक चिड़ीमार जाल बिछाये चिड़िया पकड़ रहा था पर कोई चिड़िया फंस न रही थी, दिख भी न रही थी तो वह जाल लपेटकर जाने ही वाला था कि पेड़ पर बैठी चिड़िया बोल गई। उसने फिर जाल बिछाया और चिड़िया फंस गई। इस बात को देखकर राजपुत्र बोल गया —जो बोले सो बबूचे। सो उस शिकारी को इतनी खुशी हुई कि अरे इस चिड़िया से क्या प्रयोजन ? छोड़ा जाल

और तुरन्त राजा के पास पहुंचकर शुभ समाचार दिया कि राजन् आपका पुत्र तो बोलता है। राजा इस बात को सुनकर बड़ा खुश हुआ और उसने कई गांवों की जायदाद इनाम में दी। थोड़ी देर बाद जब राजपुत्र आया और वह बोला नहीं तो राजा को चिड़ीमार पर बड़ा गुस्सा आया कि चिड़ीमार भी हमसे मजाक करता। सो तुरंत राजा ने चिड़ीमार को फांसी का आर्डर दे दिया। जब चिड़ीमार फांसी के तख्तेपर चढ़ा और उससे कहा गया कि बोल तू क्या चाहता है? जिससे मिलना हो मिल ले, जो कुछ खाना हो खा ले। तो उस चिड़ीमार ने कहा कि महाराज मुझे तो बस अपने कुमर से दो मिनट के लिए मिला दीजिए, और कुछ न चाहिए। जब राजपुत्र से मिला वह चिड़ीमार तो चिड़ीमार बोला—हे राजकुमार मैं मरुंगा, इसका मुझे कष्ट नहीं, मरना तो है ही कभी, पर कष्ट इस बात का है कि लोग मुझे झूठा कहेंगे, यह मेरे लिए बड़ा कलंक है। सो कृपा करके उतनी बात कह दो जितनी कि बगीचे में कही थी। फिर क्या था, राजपुत्र ने एक व्याख्यान दिया—देखो मैं पहिले साधु था, राजा से बोल गया इसलिए फंस गया, चिड़िया बोली वह फंस गई और चिड़ीमार राजा से बोला तो वह भी फंस गया। तो जगत का ऐसा ही खेल है कि बाह्य पदार्थों में जो आसक्ति करे वह तकलीफ पायगा।

कष्टों से छुटकारे का अमोघ उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र—संकटों से बचने का उपाय तो सीधा बताया है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन के मायने क्या कि मेरे आत्मा का स्वयं का जो अपने आप सहज स्वरूप है किसी पर के सम्बंध बिना अपने ही अस्तित्व के कारण मेरा जो एक प्रतिभासमात्र ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप है उसमें यह विश्वास बने कि मैं यह हूं, देखो बहुत सरल बात है—क्या देह मैं हूं? देह तो यहीं पड़ा रहता, मैं चला जाता, दूसरों को देखते कि नहीं और ध्यान लावें तो यहां भी मालूम पड़ जायगा कि देह से निराला मैं ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, तो बस ऐसा मान लें, भला हो जायगा। तो जो मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं यह मैं हूं और इस ज्ञान के परिणमन को ही मैं कर पाता हूं, ज्ञान के परिणमन को ही मैं भोग पाता हूं ऐसा अपने आपमें विश्वास हो, इसी को कहते हैं ज्ञानचेतना। ज्ञानचेतना बनावें यह तो हुआ सम्यक्त्व और ऐसा ही अपना ज्ञान बनाये रहें, उपयोग बनाये रहें, इसका ख्याल बनाये रहें, यह हुआ सम्यग्ज्ञान, और ऐसे ही ज्ञान को अपना बना लें कि यह ज्ञान निस्तरंग ज्ञान में ही समा जाय, ऐसा ज्ञानमग्न बन जायें यह हुआ सम्यक्चारित्र। समझ लिया, बात भीतर ही करना है, स्वाधीन बात है, सुगम बात है, इतना सुनकर भी आप लोग हैरान हो रहे होंगे कि यह ही तो कठिन लग रही है कि मैं अपने ज्ञानस्वरूप में मग्न कैसे हो जाऊं? अच्छा क्यों कठिन लग रहा है? वासनायें जग रही हैं, तृष्णा, इच्छा बैठी है, बाह्य में विकल्प चलता है। पुत्र मित्र को कहां छोड़ें, बहुत बहुत जिससे लाड़ किया उसे छोड़कर कहां जायें? बहुत-बहुत सी विवशतायें बन रही हैं, बस यह विवशता बन रही ना तो उसकी दवा करें, इसी को कहते हैं व्यवहारधर्म।

व्यवहारधर्म द्वारा विषयकषायाक्रमण से बचकर निश्चयधर्म में प्रगति की शक्यता—व्यवहार धर्म तो है दवा और निश्चयधर्म है औषधि, इसको ध्यान में रखना। आजकल लोग औषधि कम पसंद करने लगे और दवा को ज्यादा पसंद करने लगे। किसी को कोई रोग हुआ तो झट डाक्टर को बुलाता, इंजेक्शन लगवाता, पर इन दवाओं से तो रोग दब जाता है, रोग मूल से खतम नहीं होता। पुराने जमाने में तो औषधि का ही विशेष पालन था। काढ़ा बनवा लिया या पथ्य से रह लिये, भीतर के सारे दोष पच जाते हैं, ठीक हो जाते हैं, तो यह व्यवहार धर्म है दवा और निश्चयधर्म है औषधि। इन विषयकषायों में, पापकार्यों में उपयोग जाता है तो उनको यह व्यवहार धर्म दबा देता है। लेकिन औषधि जरुर बनायें। वह औषधि है निश्चय सम्यक्त्व, निश्चयज्ञान, निश्चयचारित्र। आत्मा का ध्यान बनावें। उस आत्मा में अपने ज्ञान को रमावें, यह अपनी औषधि भी यों समझो—ढाल और

तलवार। जैसे युद्ध में दूसरों का आक्रमण बचाने के लिए ढाल का उपयोग है और शत्रु को मारने के लिए तलवार का उपयोग है, ऐसे ही पाप व्यसन जो मुझपर लदने लगते हैं उनको तुरन्त हटाने के लिए हमारे प्रभुभक्ति सत्संग आदिक साधन हैं। यह व्यवहारधर्म हमको विषयों के, व्यसनों के, पापों के आक्रमण से तुरन्त बचा देता है। अब बच तो गए, वहां आक्रमण से, मगर अभी शुभोपयोग तो चल रहा है अब वे बातें सब दबी हुई हैं। अब भीतर के अज्ञान को, इन विषयवासनाओं के संस्कार को हटा दें। तो अपना अच्छा जीवन बनायें और जो बड़ा दुर्लभ मानवजीवन मिला है इसको सफल कर लें। आगा-पीछा अगल-बगल पक्षपात मित्रमण्डल कुटुम्ब आदिक इन सब बातों के विकल्प को त्यागकर अपने आपपर करुणा करके जैसे आत्महित हो उस प्रकार अपना उद्यम बनायें, व्यवहार विरुद्ध रखें और भीतर में आत्मस्वरूप की आराधना ज्ञान और आचरण करे जो गुप्त ही बनता है निश्चय से। बाहर देखना नहीं है, वह गुप्त ही गुप्त अपने ही द्वारा बनता है। तो लोग तो बाह्य वृत्ति देखते हैं तो बाह्य में जो व्यवहार धर्म बनता है उनसे रक्षा है कि पाप व्यसन से बच गए, और दुनिया का रक्षण इसमें है कि वे भी इस सन्मार्ग के पात्र बन सकें। तो जो तकलीफ होती है वह तो अपने को अपने विकल्प से होती है। उन विकल्पों को त्यागने के लिए अगर कुछ संयम ज्ञान आराधना का थोड़ा कष्ट करना पड़े तो उस कष्ट को मंजूर कर लिया तो संसार के संकट सदा के लिए समाप्त हो जायेंगे और विशुद्ध ज्ञानज्योति के अनुभव का आनन्द जग उठेगा। कर्म कटते हैं तो आनन्द से, मगर वह आनन्द आत्मा का आनन्द है तब अनुभव में रहेगा कि यह है समता रस से भरा हुआ ज्ञानप्रकाश। जिसमें यह आनन्द उठा है यह है सहज ज्ञान सामान्य अखण्ड प्रतिभास। केवल एक चैतन्य ज्योति, उसको निरखें, उसे स्वीकार करें ॐ, वही मैं हूं, ऐसा मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। अपने को ज्ञानमात्र अधिकाधिक निरखने का पौरुष बने तो अवश्य ही कल्याण होगा।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन द्वादश भाग समाप्त ॥

त्रयोदश भाग

प्रिय आत्मन् ! तेरे को कुछ भी कष्ट नहीं, तू तो विशुद्ध पावन चैतन्य ज्योतिपुञ्ज है, तू तो सब द्रव्यों में सारभूत तत्त्व है, अमूर्त है। तुझ अमूर्त में कहीं से बाधा आने का काम ही नहीं, अपने को निराबाध अनुभव कर। तू ज्ञान वाला पदार्थ है। जानने का काम करता है, सो उल्टा उल्टा मत जान, फिर कोई कष्ट का काम नहीं। सीधा सच्चा सुगम सहज जान जान। शान्ति के लिये परिश्रम कुछ नहीं करना है, सिर्फ उल्टा जान मत, इतना ही करना है। उल्टा ज्ञान छूटा कि यह सहज स्वरूप सन्मुख ही रहेगा, यह परमब्रह्म ·· आनन्दधाम ·· एकत्वविभक्त ·· शुद्ध चैतन्य···ज्ञानघन·· चित्स्वरूप···ॐ ॐ ॐ·· तत् सत् ·· शुद्धं चिदस्मि।

कष्टरहित आत्मस्वरूप के आश्रय से कष्ट का अभाव—लोक में जितने भी प्राणी हैं उन सबका एक ही आशय है कि मेरे को सुख मिले और दुःख न हो। और जितने उपाय करता है जीव वे इसलिए करता है कि दुःख दूर हों और सुख मिले। पर सब उपाय करनेपर भी आज तक इस जीव को सुख नहीं मिला, इसका कारण क्या है ? कारण यह है कि जहां सुख नहीं वहां यह सुख ढूंढ़ता है। फिर कैसे सुख मिले ? जैसे बालू में तैल नहीं और वहां से कोई तैल चाहता है तो मिलेगा क्या ? तो जगत के बाह्यपदार्थों में, किसी भी अन्य पदार्थ में मेरा सुख नहीं, आनन्द नहीं, तो उनसे कैसे आनन्द मिलेगा ? इस जीव ने अब तक यही किया कि बाह्य पदार्थों से सुख माना और विकल्प किया। तो यों इस करतूत से सुख नहीं मिल सकता। तो अब क्या करना ? करना यही है कि जहां सुख है, जहां आनन्द है वहां दृष्टि देना है कि यहां है आनन्द। जो चाह रहा है आनन्द उस ही के स्वरूप के आनन्द, वहां ही है ज्ञान। तो अर्थ यह हुआ कि आत्मा के ज्ञान बिना संकट दूर नहीं हो सकते। आत्मज्ञान बिना मुक्ति का उपाय नहीं बन सकता। तो आत्मज्ञान करें। कैसे करें, आत्मा का ज्ञान कैसे हो, सो सुनो एक साधारण कुञ्जी। जैसे किसी भी पदार्थ का स्वरूप जानना हो तो मात्र उस ही पदार्थ को समझे तो समझा जाता ना, यों ही अपने में अपने को ज्ञानरूप समझें तो अपना स्वरूप जानने में आयगा। वहां किसी दूसरे का सम्बंध मत देखें। किसी दूसरे के सम्पर्क वाला, प्रभाव मत तकें, किन्तु वह पदार्थ अपने हीं अस्तित्त्व के कारण किस रूप में रह सकता है ऐसा वहां परिचय बनाओ। आत्मा का ज्ञान करना है, अपना ज्ञान करना है तो ऐसा ध्यान में लावो कि यह मैं आत्मा परके सम्बंध बिना अपने ही अस्तित्त्व के कारण कैसा भावस्वरूप हूं ? ऐसा परिचय बनायें तो आत्मा का ज्ञान होगा। कैसा हूं यह मैं आत्मा ? परके सम्बंध बिना अपने ही अस्तित्व के कारण विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। जिसमें ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण पड़ा है शक्तिरूप में इस स्वरूप को जब तकता है कोई तो विदित होता है कि यहां कष्ट का तो कुछ काम ही नहीं है। स्वरूप में से कहीं कष्ट आता है ? किसी का स्वरूप क्या किसी की बरबादी के लिए होता है ? मैं जब अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूप को देखता हूं तो वहां विदित होता कि यहां कष्ट का काम नहीं है। तो अब देख लो और इस तरह अपने आपको ज्ञान में लायें तो यह ही जानने में होगा कि कष्ट कुछ है ही नहीं मुझको।

बाहर में कष्ट नहीं, स्वरूप में कष्ट नहीं, फिर कष्ट का अवकाश क्यों—सभी लोग सोचें जो मैं हूं उसे निरखकर, यह देह मैं नहीं हूं, यह देह तो महाघिनावना है, पर है, अणुवों का पुञ्ज है। यह देह आता जाता, इसमें देहअणु रहते हैं, वह मैं नहीं हूं। मैं हूं एक सर्व पदार्थों में सारभूत चैतन्य तत्त्व, उसको देख लें, मैं जैसा हूं वैसा मानने में आये तो वहां कष्ट कुछ है क्या ? कष्ट तो बनाये गए हैं। जगत के जीव हैं सब, अनन्तानन्त जीव हैं, उन अनन्तानन्त जीवों में से दो चार जीवों को क्यों छांट लिया ऐसा कि ये मेरे हैं। अरे वे सब भिन्न जीव हैं उनसे तेरे आत्मा का क्या सम्बंध, जो आप कहते हो कि ये मेरे हैं। क्या भाव न्यारा-न्यारा नहीं है, अनुभव न्यारा न्यारा नहीं है ? द्रव्य न्यारा, क्षेत्र न्यारा, काल न्यारा, भाव न्यारा। गुण जुदा, पर्याय जुदी, जैसी सब जीवो के

वैसी ही उन जीवों की। देखो अज्ञान से विपदा है। अज्ञान न रहे तो बहुत से उपद्रव तुरन्त समाप्त हो जाते हैं। रही सही वासना से कर्मविपाकवश जो परिस्थिति बनती है, भले ही उसमें कुछ उद्वेग हो जाय, मगर भीतर में आकुलता नहीं है। अपनेपर दया हो तो पहले यह निर्णय बनायें कि हमें अज्ञान दूर करना है, और अज्ञान दूर करने के लिए कोई विशेष विद्या अलग से नहीं पढ़नी होती है। पढ़ें तो अच्छा ही है उससे निर्मलता बनती है और पढ़ना चाहिए। आम उपाय तो अध्ययन है, मगर जो एक अपने शान्तिधाम का परिचय होने की बात है वह होती है एक इतना निर्णय होने से कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूं, मेरा मेरे से बाहर कुछ नहीं है। एकदम कटाव कर दें परवस्तुवों से, परचेतनों से जो सम्पर्क बनाया जाता है बस वह कष्ट का हेतु है। जिसके घर कोई गुजर गया, दो चार दिन हो लिए, बाद में दुःख कम हो गया, घर का काम काज चलने लगा, और ध्यान भी नहीं जाता, और इतने में आ गए फेरा देने वाले दो चार रिश्तेदार, तो जो दु.ख भूल गया था वह दुःख फिर उमड़ आया, और उन रिश्तेदारों ने ख्याल कराया, सम्पर्क बनाना। तो जैसे वह सम्पर्क क्लेश का ही कारण तो बना, कोई शान्ति का कारण न बना, ऐसे ही कदाचित् कुछ दुःख कम हो जाय, कम तो कुछ नहीं होता। द्वेष में जैसे क्लेश वैसे ही राग में क्लेश। तो उसका जो नया-नया सम्पर्क बनता है, नया भी कुछ नहीं, सब पुराना है, मगर भूल गए और आज ये चीजें मिलीं उसे नया मान लिया। भव-भव में कितनी ही बार ये चीजें मिलीं, पर जिस सम्पर्क में उपयोग गया हमने अपना कष्ट बना लिया। स्वरूप देखो तो वहां कष्ट का कुछ काम ही नहीं, कष्ट ही नहीं।

अपने को पर से विविक्त एकत्व मात्रगत निरखने के साहस की आवश्यकता—देखो बड़े साहस की बात है। कोई कर सके तो संसार से पार हो जायगा। साहस यह करना है कि अपना पक्का ज्ञान बना लें कि मेरा मेरे से बाहर कहीं कुछ नहीं है। मैं तो केवल एक अकेला, प्योर, केवल मैं ही मैं हूं। मेरा मेरे सिवाय कहीं कुछ नहीं, ऐसा पक्का निर्णय बने तो जगत में पार होने का काम बन जायगा। इस निर्णय में कौनसी कठिनाई है ? भीतर ज्ञान देना है, भीतर मनन करना है और भीतर के द्वैत को फाड़ देना है। बचा हुआ जो अपना स्वरूप है पर का ख्याल छोड़कर वह अपने ज्ञान में आ जायगा। तू परपदार्थों में विकल्प रखने की आदत छोड़ दे और कुछ क्षण जिस क्षण तू यह उद्यम किए हो कि मैं तो अपने को जानकर रहूंगा, उस क्षण तो तू सबको भुला दे। केवल ज्ञानमात्र अपने ज्ञान में रहेगा तो आत्मा का परिचय सही हो जायगा और सब कुछ जान जायगा कि यह कष्टरहित है। फिर क्या है ? यह विशुद्ध पावन पवित्र चैतन्यज्योति केवल जगमग चित्स्वरूप। ऐसे अनुभव के मायने सबमें घुल मिल गए, ऐसे आनन्द के मायने सबसे निराले हो गए। सबसे निराला होने में सबमें घुली मिली स्थिति बन जाती है। जैसे किसी को राग करने की आदत है और उसको कहो कि भाई तुम अच्छा काम कर रहे, राग करो, प्रीति करो, मगर तुम एक दो से न करो, जगत के सब जीवों से करो, सब जीवों में अपना राग फैला दो। सब जीवों में राग फैलाने का अर्थ होगा कि किसीपर राग न रहे, और एक दो पर राग करने का अर्थ है कि आसक्ति हो। कोई पुरुष ऐसा सोचे कि हम घर में अकेले हैं और हमारी स्त्री है और हमें किसी से कुछ मतलब नहीं, केवल एक में ही राग रह गया और बाकी सारे अनन्त जीवों का राग हमने त्याग दिया, तो बोलो वह त्यागी है क्या ? कदाचित त्याग इसमें मिल जाता कि वह सब जीवों में राग रखता, मगर उसने जो एक में राग बांध लिया वह विकट राग होगा। तो अनन्तानन्त जीवों में से जो छंटनी कर ली कि यह मेरा है बस इस अज्ञानी ने अपनी खूब मरम्मत कर दी क्या ? दुःखी कर देना, व्यथित कर देना, पीड़ित कर देना, आत्मा की सुध भुला देना, ये सब विडम्बनायें बन गईं। तो कष्ट दूर करने का उपाय है अज्ञान को दूर कर देना। अज्ञान को दूर करने का अर्थ है कि निज जो सहज ज्ञानस्वरूप है ज्ञानमात्र अमूर्त जाननमात्र उसरूप अपने को अनुभवना।

ज्ञानानुभूति से ही यथार्थ ज्ञानस्वरूप की गम्यता—देखो कुछ बात तो बातें ही होती हैं, मगर कुछ

ज्ञान ऐसा होता जो प्रयोग से ही बन सकता है। जैसे किसी पदार्थ के स्वाद के विषय में कोई पूछे, जैसे मानो रसगुल्ले के विषय में कोई पूछे कि बताओ रसगुल्ले का स्वाद कैसा होता है तो उसके स्वाद का ज्ञान वही पुरुष भलीभांति करेगा जो रसगुल्ला उठाये और खाये। लेकिन बात-बात में स्वाद का ज्ञान बन सकेगा क्या ? प्रयोग करने से बनेगा। तो ऐसे ही आत्मा का ज्ञान बात बात से बन सकेगा क्या ? प्रयोग से बनेगा। कहीं बड़े शान्त वातावरण में, एकान्त में एक अपने आपको समझने का संकल्प कर बैठ जाइये और उद्यम कीजिए कि मैं अपने को ज्ञानस्वरूप में अनुभव करलूं, ज्ञान जानना, जानना कुछ होता है ना। जानते तो रहें हम सब। जानना भी तो कोई काम है ना कि जानना क्या स्वरूप रखता है ? कौन जान गया। तो मेरे स्वरूप को जब समझने का पौरुष करता है तो यह निर्विकल्प हो जाता है। वहां विकल्प नहीं उठता। यह मात्र जानने का स्वरूप ज्ञान में लाता है तो वहां की सारी सिद्धि खतम होती है, सारे ख्याल दूर हो जाते हैं और जानना, ज्ञानप्रकाश चित् ज्योति का स्वरूप जब ज्ञान में जगता है तो वहां एक ज्ञानप्रकाश का ही अनुभव रहता है। वहां इसने समझा कि यह है आत्मा। जैसे स्वादिष्ट चीज का ज्ञान कुछ बातों से नहीं मिलता स्वाद लेने से मिलता, ऐसे ही आत्मा का ज्ञान ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व के अनुभव से मिलता, बात से नहीं मिलता। और जिसमें इस ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व का अनुभव कर लिया उसको फिर विवाद नहीं होते, विसम्वाद में मन नहीं लगता, विषय कषायों में मन नहीं लगता। एक ही धुन रहती कि मैं ऐसा ही ज्ञानमात्र अंतस्तत्व का स्वाद लेता रहूं, यह ही काम मेरे में रहे, यह ही मेरी धुन रहे, इस तरह जिसने अपने आत्मा का स्वरूप जाना उसको कुछ भी कष्ट नहीं है।

आत्मतत्त्व की सारता का परिचय—ज्ञानी अपने को निहारता है कि तू पवित्र ज्ञानज्योति है। तू लोक के समस्त पदार्थों में सारभूत है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये सब अचेतन हैं। यह न खुद को जाने, न दूसरों को बताये। इसका जाननहार तो यह मैं और मुझ जैसे ये सब जीव ही तो होते हैं। कल्पना करो कि जगत में सब कुछ होता, एक जीव भर न होता तो क्या होता ? क्या था ? क्या समझते, क्या व्यवहार होता ? ऐसा है तो नहीं। जीव है और यह सब द्रव्यों में सारभूत तत्त्व है। कैसा है यह ? रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित अमूर्त। इस अमूर्त आत्मा में कष्ट का क्या काम ? बस इस ओर जो अभिमुख रहे और ऐसे अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा को ही जो मैं हूं, ऐसा समझे कि उसे कुछ भी कष्ट नहीं। और यहां से चिगे और बाहर में सम्पर्क जोड़ा कि कष्ट का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मा में बाधा का कुछ भी काम नहीं है। कहीं बाहर से हम में क्या बाधा आयी ? आकाश में आग डाल दी तो आकाश जल जायगा क्या ? आकाश में लाठी घुमावो तो उससे आकाश पिट जायगा क्या ? ठीक जैसे आकाश अमूर्त है वैसा ही तो यह मैं जीव अमूर्त हूं। पर आकाश में ज्ञान नहीं, मुझ में ज्ञान है और उस ज्ञान का विकल्प करता है तो यह धूर्त सा बन जाता, बोझल हो जाता। तो तू अपने को अमूर्त देख और निराबाध अनुभव कर, मुझ में कष्ट नहीं, मुझ में बाधा नहीं, मैं तो अमूर्त चैतन्यमात्र हूं। देखो स्वरूप की ओर स्वभाव की ओर दृष्टि करके सुनना है यह सब। देख तू ज्ञान वाला पदार्थ है। जानना तेरा काम है क्योंकि उत्पाद के बिना कोई पदार्थ अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। प्रति समय उसमें नया-नया परिणमन होता ही है। तू तो जब ज्ञानमय पदार्थ है तो तेरे में परिणमन ज्ञान व्यापार जैसा ही तो चलेगा। तू जानने का ही तो काम करता है। अब तू उल्टा मत जान। उल्टा जानेगा तो कष्ट पायगा। सीधा जानेगा तो कष्ट से मुक्त होगा। उल्टा जानने का अर्थ है कि हैं तो प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र अपने-अपने स्वरूप में और तू किसी पदार्थ को माने कि यह मेरा तो यह उल्टा जानना हो गया। उल्टा जानेगा सो कष्ट पायगा। जो सही जानेगा उसको कष्ट कहांसे आयगा ? अभी प्रयोग करके ही देख लो। बोलने वाले से सुनने वाला बड़ा होता है, क्योंकि सुनने वाले को विकल्प मचाने की क्या जरूरत ? सुनते जायें उतारते जायें पीते जायें, प्रयोग करते जायें। बोलने वाला चाहे कुछ इसी दृष्टि से बोले तब भी थोड़ा उसका कुछ

विकल्प चलता है। तो यही कुछ संतोष करलो कि जब मैं अपने अन्दर यह ही निहारता हूं कि ज्ञान हुआ और ज्ञान का ही व्यापार चल रहा। जानना चल रहा जबरदस्ती, अनिवारित, इसे रोके कौन ? जब मैं ज्ञानमय हूं तो यहां से ज्ञान की वृत्ति भी चल रही। चलो, मुझे किसी पर में फंसने की आवश्यकता नहीं है। मैं किसी पर का ध्यान नहीं बनाता। मैं केवल जैसा स्वयं होता है, बस उसी का ही समर्थक हूं। चलने दो ज्ञानवृत्ति। जानन आ रहा ज्ञान का और ज्ञान के परिणाम का, ऐसा भीतर प्रयोग कर सकें तो यह ही एक अद्भुत आनन्द और अनुभव पा लेगा।

विपरीत ज्ञान का परिश्रम छोड़ने से सहज शान्ति का लाभ—भैया ! शान्ति के लिए परिश्रम कुछ नहीं करना है, सिर्फ उल्ट मत जानें, इतना ही करने की आवश्यकता है और जो हो स्वयं सो होने दो। पर का सम्पर्क न बनावें, परका विकल्प न करें, उद्वेग न लावें। जान लो कि मैं हूं और परिणमूंगा, सो परिणमने दें, ऐसा एक अपना स्वातंत्र्य देखें और सही जानकारी बनायें, तो लो उल्टा ज्ञान छूटा और यह सहज स्वरूप ही सम्मुख आ गया। क्या है वह सहज स्वरूप, वह परमब्रह्म ? ब्रह्म के मायने क्या ? जो अपने आप अपने गुणों से बढ़ता हुआ रहे वह है ब्रह्म। सो ऐसा ही मेरा स्वभाव है कि मैं स्वतः ठहरता हुआ ही रहूं। ज्ञान बढ़ बढ़कर सर्वज्ञ बनता है, आनन्द बढ़ बढ़कर पूर्ण निराकुल होता है, आनन्द पाता है। तो यह हूं मैं परमब्रह्म, आनन्द का धाम, एकत्वविभक्त, परसे न्यारा, यह तो मैं हूं विभक्त अपने स्वरूप में शाश्वत, यह हूं एकत्व। ऐसा शुद्ध चैतन्य ज्ञानघन जब ज्ञान ही ज्ञान-स्वरूप है तो ज्ञानघन तो हूं ही। ऐसा यह मैं चित्स्वरूप, यही परमपिता, यही परमशरण, यह ही मेरा रक्षक, यह ही मेरा धाम। यहां कष्ट का कोई काम नहीं। ऐसा कष्टरहित निजके विशुद्ध चैतन्यस्वरूप को निहार कर, स्वीकार कर यह हूं मैं। ॐ, ॐ तत् सत् बोलते हैं ना लोग। वह है यही स्थिति। जो मैंने परखा, निरखा अपने में सहज परमात्मतत्त्व, वह ही है सत्। उसको बताने का जो शब्द है वह है ॐ, और उस स्वरूपज्ञान का प्रतिनिधि है तत् और जो स्वरूप है उसका प्रतिनिधि है सत्। शब्द, अर्थ, ज्ञान सबमें चलते हैं, शब्दभगवान, ज्ञानभगवान, अर्थभगवान। तो अपने स्वरूप का भी शब्दस्वरूप ॐ, ज्ञानस्वरूप तत् और अर्थ स्वरूप सत्। ऐसा यह मैं अपने ही अनुभव में आने वाला शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। यह मैं हूं ऐसा निर्णय है जिसके, उसको कष्ट नहीं होता।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन त्रयोदश भाग समाप्त ॥

चतुर्दश भाग

प्रिय आत्मन् ! अब बहकना छोड़ दे, अन्तर में अन्तर देख, क्या हो रहा है, अन्तर में इसका परिचय कर। तू ज्ञानमात्र है, चेतने की परिणति कर रहा है, इतना तो तेरा कौलिक काम है, द्रव्यगत स्वभाव है। इसके ऊपर और क्या हो रहा है, सो देख—पूर्वबद्ध कर्म तेरे में एकक्षेत्रावगाह हैं, वे पुद्गल हैं, तेरे से भिन्न हैं, उनका जब विपाककाल आता है, विपाक होता है, तब अनायास उनका प्रतिफलन होता है। प्रतिफलन से आक्रान्त हुआ तू बहक जाता है और इन्द्रियविषयों को उपयोग में लेकर व्यक्त विकृत व आकुलित हो जाता है। बस, तू यहां न बहक, फिर तेरा मार्ग साफ ही है। तू कर्मफल को मत पकड़, अपने स्वरूप को ही ग्रहण कर। यह स्वरूप…शुद्ध चैतन्य…गंभीर…धीर…जाननमात्र…ॐ…ॐ…ॐ…तत् सत्…शुद्धं चिदस्मि।

ज्ञानजागरण होनेपर बहकने की समाप्ति—जैसे किसी सरल बालक को कोई कुछ कहकर बहका सकता है। ऐसे ही यह सरल आत्मा है। आत्मा अपने सहज स्वभाव से सरल है, इसमें द्वन्द्व, माया, छल, कपट, विकार इनका प्रवेश नहीं है स्वरूप में, लेकिन कुछ परिस्थितियां बनी हुई हैं ऐसी अनादि से कि यह कर्माक्रान्त है और उस कर्म के प्रतिफलन से, ज्ञान का तिरस्कार होने से अपने में यह तृप्त हो नहीं पाता, तो बहककर बाहरी पदार्थों से तृप्ति की आशा रखता है। यह बहकना अनादि से चला आ रहा है। जब ज्ञान जगता है तब अपनी कुछ थोड़ी खबर होती है तो इसके अन्तर में यह आवाज उठती है कि हे प्रिय आत्मन् ! अब बहकना छोड़ दे, अन्तर में देख कि क्या हो रहा ? बाहर कुछ मत परख। यह इष्ट है, अनिष्ट है, यों है, क्या हो रहा ? तू अन्तर में अपने अन्तर की बात देख, अन्तर का परिचय कर। जैसे किसी बालक को कोई बहका दे कि देख तेरे कान वह कौवा लिए जा रहा है तो वह बालक उस कौवा के पीछे भागता है। कोई समझाता है कि अरे बालक तू क्यों कौवा के पीछे भग रहा, दुःखी हो रहा, अरे अपने कान टटोलकर देख तो सही, कहां तेरे कान कौवा लिए जा रहा ? तेरे कान तो तेरे ही पास हैं। जब वह बालक कुछ ठहरकर टटोलकर देखता है तो झट कह उठता है अरे कहां कौवा मेरे कान लिए जा रहा ? मेरे कान तो मेरे ही पास हैं। देखो जब कभी कोई स्वप्न आता है, पड़े तो हैं अच्छे कमरे में अच्छी जगह और स्वप्न आ रहा है कोई खोटा। मैं जंगलमें भटक गया, नदी के पास पानी पीने पहुंचा। मगर ने पैर पकड़ लिया, खींच रहा है तो जब ऐसा स्वप्न आता है तो उसको कष्ट नहीं होता क्या ? सब जानते हैं बड़ा दुःख होता है। और नींद खुल जाय, जग जाय और देखे कि मैं तो यहां पड़ा हूं, तो वह बड़ा तृप्त होता है। उसे कुछ दुःख नहीं हैं, उसे सारा झूठा दुःख था, ऐसे ही जब बाहरी पदार्थों का सम्पर्क बनाये रह रहे तो उस समय अनेक संयोग, वियोग, अनेक बाधायें आती हैं और उसमें कष्ट मानता है, और जिस समय ज्ञान जगा कि मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप ही हूं, यह मैं ज्ञानरूप परिणमूँ, इतना ही तो मेरे में काम है; इसमें क्लेश क्या आयगा ? जैसे ही यह अपने को देखता है कि मैं आनन्दधाम सुरक्षित स्थान में ठहरा हुआ अपने प्रदेश में रहता हूं, यहां कोई संकट नहीं, तब इस ज्ञानी को बड़ी तृप्ति होती है कि मैं व्यर्थ ही भ्रम से बाह्यपदार्थों को अपनाकर भटकता रहा। तो अब यह अपनी आवाज करता है अन्तर में कि हे प्रिय आत्मन् ! अब बहकना छोड़ दे, अन्तर में अन्तर को देख। तेरे में ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान ज्ञानरूप परिणम रहा। उसका तो परिचय कर।

चैतन्यकुल की आन ज्ञातृत्व—तू ज्ञानमात्र है, तू केवल चेतना में परिणति कर रहा है। यह तो तेरा कौलिक काम है। कोई बड़े कुल का बालक हो और वह कोई खोटे काम में लग जाय तो लोग समझाते हैं ना कि तू अपने कुल की बात तो देख। तेरे कुल में तो बड़े बड़े काम होते आये हैं, तू खोटी बातों में क्यों लग रहा है ? तो कौलिक काम करने में बड़प्पन है और कुल से हटकर खोटा काम करने में बड़प्पन नही है। तेरा कुल है चैतन्य,

जिसमें तू अपनी संतति रहे वही तो कुल है। कुल किसे कहते हैं कि जो एक संतति चलती रहे, तो तेरी संतति क्या बाहर है ? बाहर कुल नहीं तेरा। बाहर तो सब मिटेगा। कुल तो तेरा अपने भीतर चैतन्यस्वरूप का है चैतन्य कुल। तू अपने चैतन्य कुल में अपने कुल का काम कर। सो देख वह तेरा द्रव्यगत स्वभाव है। तू एक पदार्थ है। तेरे में ही ऐसा स्वभाव पड़ा है कि तू चेतता रह। चेत चेतन के सिवाय तू जो ऐसा काम करता है राग विरोध का, बस वह तेरे कुल से हटने का काम है। तू ज्ञाताद्रष्टा रह। यह तो है तेरे कुल की रीति।

आत्माराम पर उपद्रव होने का संक्षिप्त विवरण—अब जरा यह निरख कि तेरे पर उपद्रव क्या आ रहे ? इस चेतनपर क्या गुजर रहा है ? गुजर क्या रहा है ? अनादि से ऐसा निमित्तनैमित्तिक भाव चलता आया कि कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव में रागद्वेषभाव होते याने उपयोग में विकार बनता, और जीव के रागद्वेष का निमित्त पाकर कर्म बन जाते, बस यही परम्परा अनादि से चली आ रही है। इस चक्कर में पहले बंधे हुए जो कर्म हैं उनका उदय हुआ, उदय हुआ कर्म का कर्म में, मगर उसका प्रतिफलन हुआ आत्मा में, उपयोग में। प्रतिफलन होते ही यह दंदक गया, आक्रान्त हो गया। जैसे कोई पीछे से लड़का हल्ला कर दे जोर से तो यहां दंदक जाता है, अपने आत्मस्वरूप में नहीं ठहर पाता, हिल जाता है, ऐसे ही कर्मों का जब यहां प्रतिफलन हुआ, ज्ञान का तिरस्कार हुआ तो प्रकृत्या यह आत्मा एक आक्रान्त हुआ, हिल गया, चलित हो गया और चलित होकर बाहर में कुछ अपनी शरण ढूँढ़ने लगा। अब यह बहकर इन इन्द्रियविषयों को उपयोग में लेकर व्यक्त विकार करता है और आकुलित होता है।

ज्ञानरसास्वाद के लिये लोकैषणापरिहार की नितान्त आवश्यकता—देखो बहुत बड़े त्याग की आवश्यकता है अपने ज्ञान का स्वाद लेने के लिए। वह क्या त्याग करना होता है कि एक अपने आपमें अपने आपका निर्णय रखना और बाहर से लोकलिहाज सम्पर्क सम्बंध सब कुछ त्याग देना। व्यवहार धर्म तो बनता है लोकलिहाज में, उसमें कुछ कारण है और इसी लिए गृहस्थों को बताया गया है कि वे कीर्ति का सम्पादन करें, श्रावकाचार में गृहस्थों को उपदेश किया है, उसका कारण क्या है कि वे अपने नाम का या कुल का ख्याल रखेंगे तो गलत काम न कर पायेंगे। अपनी बात अपना प्रमाण ठीक बनाये रखेंगे, लेकिन ये इससे और ऊपर अगर बढ़ते हैं अपना स्वानुभव करना, ज्ञानानुभव करना, तो उसके लिए तो रंच भी विकल्प न रहना चाहिए, और रंच भी विकल्प न रहे, यह बात तब बनती है कि जब स्वरूप से अतिरिक्त जो पदार्थ है, भाव है उन सबका एकदम कटाव कर दे। कुछ नहीं मेरा। मैं यह ही हूं, अपने आनन्दधाम के अन्दर विहार करने का जो आनन्द है वह एक अलौकिक आनन्द है। इस निज आनन्द को पाने का पथ क्या है ? आनन्द का सम्बंध ज्ञान से है। ज्ञान विशुद्ध है तो नियम से आनन्द है, यथार्थ ज्ञानरहित है तो आनन्द में बाधा है। ज्ञान में मलिनता आती है तो परपदार्थों के विषय में रागद्वेष की कल्पनायें करने से। तो परपदार्थों के विषय में रागद्वेष की कल्पनायें न बनें और यह ज्ञान केवल ज्ञान का ही काम करे। उस समय जो अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है वह ही अनुभव सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है और वही अनुभव भव-भव के पाये हुए कर्म को काटता है। तो ऐसा अनुभव पाने के लिए एक सीधा उपाय है। यह पहिले प्रश्न करें कि मैं क्या हूं ? देखो योगरीति से तो ऐसी भी प्रक्रिया है कि पद्मासन से या स्थिर आसन से बैठकर पहले प्राणायाम करें और श्वास लें और फेंकें। जल्दी लें, फेंके और इस प्रक्रिया में इस शरीर को एकदम श्रान्त कर दें और श्रान्त करने के बाद एकदम विश्राम में ढीले ढाले बैठकर अपने में बारबार प्रश्न करें कि मैं क्या हूं, मैं क्या हूं ? इस प्रश्न के साथ उत्तर भी चित्त में आता रहे और उसके बाद प्रश्न छोड़ दें और उत्तर ही उत्तर कहता रहे कि मैं ज्ञानमात्र हूं ज्ञान-स्वरूप हूं, ज्ञान ज्ञान हूं—कहते जायें और ज्ञानस्वरूप को लक्ष्य में लेते जायें और फिर अन्तर्जल्प भी छूटे और जो ज्ञानज्योतिस्वरूप है उस मात्र अनुभव बने। ज्ञान में प्रभुस्वरूप समाये तो इस अनुभूति में जो निर्विकल्पता आती है वही सम्यक्त्व को उत्पन्न करती है और भव भव के बांधे हुए कर्मों को काटता है।

तपश्चरण के लाभ और प्रयोजन—कहते हैं कि तपश्चरण करने से कर्म खिरते हैं, मगर वास्तविक तपश्चरण क्या है ? इच्छा निरोध । किसी भी पदार्थ के विषय में कुछ भी इच्छा न रहना, ताकि यह ज्ञान ज्ञातामात्र रह जाय, यह बात तो अन्तर की कही । कुछ इच्छा न रहे, इच्छा का निरोध रहे. इसके लिए जो हमारा तन, मन, वचन का उद्यम है वह कहलाता है बाह्य तपश्चरण । कुछ ऐसी आदत है मनुष्यों की कि अगर सुख में, आराम में, मौज में रहें तो इच्छा का तांता लगता जाता है, इच्छा दूर नहीं होती और कष्ट आये, उपवास किया और भी व्रत हैं, तप है, संयम है तो यह कुछ सहयोगी होता है कि यह जल्दी इच्छा का निरोध कर दे । तो एतदर्थ यह तपश्चरण है, पर उसका प्रयोजन यह है कि समस्त बाह्य पदार्थों की इच्छा हटे और मैं यह ज्ञान केवल अपने को ज्ञानरूप ही अनुभवता रहे । तपश्चरण का दूसरा प्रयोजन सुनो—कभी इसके ज्ञान जाग्रत हो गया, बड़े आराम से रहते हुए भी अच्छा अध्ययन किया, ज्ञान सीखा और इसके अपने स्वरूप का अनुभव जगा, ज्ञान हुआ, लेकिन इसने कष्ट सहने का अभ्यास नहीं किया, ऐसे पुरुष की बात कह रहे हैं जिसने कष्ट सहने का अभ्यास नहीं किया, और अध्ययन मनन द्वारा ज्ञान पा लिया । अब वहां यह बात बहुत सम्भव है कि कोई कष्ट आ गया तो यह ज्ञानसे चिग जायगा, क्योंकि उसे कष्ट का अभ्यास नहीं, और वह ज्ञान से चिगकर फिर खोटे कामों में लग सकता है, भ्रम में आ सकता है, इस लिए तपश्चरण इस ज्ञान को बनाये रखने के लिए आवश्यक है । अनशन, ऊनोदर आदिक जितने भी तपश्चरण हैं वे अशुभ उपयोग को बतलाते हैं और कष्टसहिष्णुता सिखाते हैं और इस लायक तैयार कर देते हैं कि कदाचित् कर्म का कोई ऐसा विपाक आये, उदय आये, असाता बने तो इस ज्ञानभाव से चिगे नहीं, यह बात कष्टसहिष्णुता से बनती है और फिर दूसरी बात यह विचारें कि यह घृणित शरीर, यह प्रतिकूल शरीर जिसको हम खिलाते हैं, जिसकी रक्षा करते हैं और फिर भी यह हमारे आत्मा के घात में ही मदद देता है, शान्ति में मदद नहीं देता, ऐसे शरीर को लाड़ से, प्यार से, आराम में, पाप में रहकर अनूठा रहकर और और प्रकार से आशा रखकर गुजार दे तो कौनसा लाभ ले लिया ? और इस देह को व्रत में, तप में, संयम में लगाकर यदि मंद कषाय की और रत्नत्रय को पाने की पात्रता बना लें तो लाभ ही तो किया । कष्ट कहां रहा ? जो व्रत, तप करके संक्लेश करे वह बुरा है और जो अपने ज्ञानानुभव का उद्देश्य रखकर प्रसन्नता से उमंग के साथ व्रत तप, संयम में चले, उसका तो भला ही है । उपाय बना लें । जिसे कहते हैं ना, किसी बड़े लाभ के लिए कहते कि कष्ट सहकर भी इस लाभ को प्राप्त कर लें, ऐसे ही जो आत्मलाभ है, ज्ञानानुभूति का लाभ है, सो भाई अध्ययन से भी, व्रत, संयम से भी अपने सदाचार से, ध्यान से एक इस ज्ञानानुभव को प्राप्त कर लें । आनन्द हमारे ज्ञानानुभव में ही है, बाहर हमारा आनन्द नहीं है ।

सर्वस्व समर्पण करके भी ज्ञानानुभूति पाने में वास्तविक कौशल—ज्ञानानुभूति के अपूर्व आनन्द को पाने के लिए कितना समय देते, कितना सत्संग करते, कितना तन, मन, धन, वचन को समर्पित करते ? सारी बात सोचनी चाहिए । हमारा सर्वस्व समर्पण ही एक इस ज्ञानानुभूति के लिए है । देखो ज्ञान तो ध्रुव है, स्थायी है, मेरी चीज है, अभेद है और तन, मन, धन, वचन ये चारों विनाशीक हैं । मगर विनाशीक चीज को समर्पित करें, अविनाशी तत्त्व का लाभ मिलता है तो यह समझिये कि हमने गुप्त ही एक अलौकिक निधि का लाभ प्राप्त किया । जिसको इतनी उमंग नहीं है और बाह्य पदार्थों में अतीव तृष्णा है, तन, मन, वचन अपनी कषाय के आग्रह में लगाया है उसका जन्म तो बेकार है । किसलिए मानव जीवन में आये ? आत्मानुभव करें और आगे का पथ सही बनायें और निर्वाण प्राप्त करें, इसके लिए मनुष्यजन्म है । लौकिक यशकीर्ति के लिए, लौकिक आराम मौज के लिए यह मनुष्यजन्म नहीं है । अपने अन्दर में देखो—यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है । ज्ञान ज्ञान ही एक इसका विलास है । जानना, बस जानें, केवल जानते रहें, कल्पना मत बनायें, विकल्प जाल मत बनायें, क्योंकि बाह्य पदार्थ के सम्बन्ध में जैसा सोचें वैसा हो ही हो, ऐसा उसके साथ सम्बन्ध तो नहीं । कल्पना ऐसी बनती है, लेकिन यह एक असम्भव सी कल्पना

है। बच्चों को और क्या दुःख है ? वे भी कल्पना से ही दुःखी रहते हैं। मां उसकी रक्षा करे, हर प्रकार के साधन जुटाये, लेकिन कल्पना जग गई दुःखी हो गए। कल्पना जग गई कि घर चलना है। मानलो कोई महिला यहां शास्त्रसभा में अपने बच्चे को लिए हुए बैठी है, वह बच्चा गोद में बैठा है, चाहे दूध पिये, चाहे बैठे, चाहे खेले, कुछ उसे तकलीफ तो नहीं है, लेकिन उस बच्चे के मन में आ जाय कि घर चलें तो वह बहुत मचलता है, मां को हैरान करता है। अरे घर में कोई अनोखे लड्डुवा धरे हैं क्या ? क्यों घर जाने के लिए मचलता ? उसे वहां कोई कष्ट है क्या ? कष्ट तो कुछ नहीं, पर एक कल्पना जग गई सो रोता है। और ऐसी ऐसी अटपट कल्पनायें करता कि जिनका पूरा होना असम्भव है। सहारनपुर की एक घटना है कि जम्बूप्रसाद जैन रईस के घर एक हाथी था। उसे देखकर एक बच्चा अपने पिता से मचल गया कि हमें यह हाथी खरीद दो। तो उसके पिता ने महावत को कुछ पैसे देकर कहा कि भाई यह हाथी हमारे घर के सामने खड़ा कर दो। सो खड़ा कर दिया। पिता ने समझाया बच्चे को कि लो बेटा हाथी खरीद दिया बच्चा फिर बोला ऐसे नहीं, यह हाथी हमारा बने। तो पिता ने हाथी को अपने बाड़े में खड़ा करवा दिया और कहा—लो बेटा यह हाथी अब तुम्हारा हो गया। फिर वह बच्चा अपने हाथ में लिए था एक छोटा लोटा। सो बोला कि अब यह हाथी हमारे इस लोटे में धर दो। अब भला बताओ यह काम कौन कर सके ? ऐसा सोचने के फल में कष्ट के सिवाय और क्या कहा जा सके ? तो ऐसे ही समझो—बाह्यपदार्थों के विषय में असम्भव असम्भव कल्पनायें उठाते हैं और दुःखी होते हैं।

संकटमुक्ति का मार्ग ज्ञानानुभव—अरे सुखी होना है तो अपने अन्तर में अन्तर को देख। तू ज्ञानमात्र है, केवल ज्ञानस्वरूप है। यह ही तेरा धाम है, यह ही तेरा सर्वस्व है, यह ही तेरा मकान है, यह ही तेरा कुटुम्ब है, यह ही तेरा विहार है। इनके बाहर तेरा कहीं कुछ है ही नहीं, पर इस झूठे परिचय ने इस जीव को ऐसा लज्जित कर दिया कि अब यह अपने ज्ञानस्वरूप में, अनुभव में नहीं आ पाता। यदि आनन्दधाम में पहुंचना है तो एकदम सबका कटाव करना होगा। मेरे को पहिचानने वाला यहां कोई है ही नहीं। ये लोग जिसे जानते हैं वह तो नाक, आंख, शरीर पुद्गल है। मेरा जो आत्मस्वरूप है उसको पहिचानने वाला कौन ? ऐसे अपने निज में अन्तःप्रकाशमान इस ज्ञानतत्त्व को कोई देखे तो यह बहकना बाहर का छूट जायगा। और जैसे बालक अपने कान टटोलकर शान्त हो जाता, मेरे कान कौवा नहीं ले गया, ऐसे ही ज्ञानी अपने उस ज्ञानानन्द का अनुभव कर संतुष्ट हो जाता है कि मेरा ज्ञान आनन्द कहीं बाहर नहीं गया, कहीं बाहर से आता ही नहीं, मेरे स्वरूप में बसा हुआ है। इस प्रकार जो अपने ज्ञानस्वरूप को देखता है उसका मार्ग साफ होता है। तो अब देखो यह कर्म की छाया, माया, प्रतिफलन, विकार, विकल्प इस कर्मफल को तू न पकड़। अपने स्वरूप का ही ग्रहण कर। वह स्वरूप क्या है ? शुद्ध चैतन्य चित्स्वरूप, जो गम्भीर है, धीर है, धीं राति ददाति इति धीरः। धीर नाम है—जो ज्ञान देवे उसे धीर कहते हैं। वह यही तो भाव है, गम्भीर है, धीर है, जाननमात्र। इसे स्वीकार कर। यह हूं मैं। ॐॐ, यह ही है सत्, यह ही है तत्। ऐसा मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। अपने में जितनी अनुभूति इसकी बनेगी। समझो कि उतना मोक्षमार्ग चल रहा है, बढ़ रहा है, और निकट काल में द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, संकट, शरीर सबसे उसका छुटकारा हो जायगा।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन चतुर्दश भाग समाप्त ॥

पंचादश भाग

प्रभो अन्तर्नाथ ! बताओ, कब शान्त होना चाहते हो, अशान्ति के काम बेहिसाब करके भी ऊबे नहीं क्या ? वस्तुतः अशान्ति के काम तुमने नहीं किये, वह सब कर्मविपाक था, अहो प्रकृतितत्त्व में भी कैसा महान् प्रताप ? कर्मप्रकृतिका विपाक विस्फोट था, क्षोभ था, उसे तुमने चेता, अनुभवा और उसके नोकर्म में उपयोग जोड़ा। इतना-सा ऊपरी काम न करो तो तुम्हारा कल्याण ही है। प्रियतम ! मैदान बदलो निजधाम आओ, देखो अपना अन्तःप्रताप, इस विशुद्ध चैतन्य में प्रतपन हो तो वहां विकल्पमल ठहरता नहीं। अहा, कैसा पावन है यह सर्व विशुद्ध चित्प्रकाश··· चित्··· चित्स्वरूप ॐ···ॐ···ॐ तत् सत्··· शुद्धं चिदस्मि।

सहज विविक्त अन्तस्तत्त्व के स्पर्श के लाभ की प्रतीक्षा—धर्म के विषय में अपना लक्ष्य एक होना चाहिए कि मुझको मेरे सहज स्वभाव का परिचय हो, अवलोकन हो, दर्शन हो, अनुभव मिले, बस सबका यही एक लक्ष्य होना चाहिए। यदि एक यह लक्ष्य रहा तो साधन भी सही समझ में आयेंगे और कभी भी विवाद की घटना न उपस्थित होगी। जैसे घर में रहने वाले लोग एक लक्ष्य में रहते हैं कि कमाई होनी चाहिए और गुजारा सही हो जाय तो कुछ उच्च नीच बात होकर भी उनमें एकता बनी रहती है ऐसे ही हम अनेक की बात नहीं कहते, एक में भी तो खुद अनेक हैं। इसे यों समझिये कि प्रत्येक मनुष्य के साथ हर जगह हजारों साथ लगे हुए हैं। कहां लगे हुए हैं ? एक ही मनुष्य में सुबह कुछ विचार है, १० मिनट बाद कुछ विचार है, दिन भर में कितने विचार होते, उन्हीं विचारों को समझ लो व्यक्ति परिणति। तो देखो एक के जब हजारों तरह के परिवर्तन होते तो उसमें होते रहो, मगर एक लक्ष्य रहेगा तो कभी भी हम सन्मार्ग से चिग न सकेंगे। क्या लक्ष्य हो ? मेरे को मेरे सहज स्वभाव का परिचय हो, यह एक लक्ष्य होनेपर आगम के प्रत्येक वचन से, प्रथमानुयोग के कथन से भी इसी लक्ष्यपर पहुंचेंगे, चरणानुयोग के कथन से भी यह ही लक्ष्य मिलेगा, करणानुयोग के कथन में भी यही मिलेगा, दार्शनिक विवेचन में भी यही और आध्यात्मिक विवेचन में भी यह ही मिलेगा, मेरे को कब सहजस्वभाव का दर्शन हो। जैसे शुद्धनय के द्वारा तो सीधा स्वभाव दर्शन हुआ, शुद्ध निश्चयनय के द्वारा जीव में शुद्ध पर्याय अभेद षट्कारकपना निरखकर बाह्य में विकल्परहित बनें और चूंकि स्वयं में षट्कारकपना देखें तो वहां स्वभाव के दर्शन के लिए शुद्धनय का स्पर्श हो जाता है। यही बात अशुद्ध निश्चयनय में है। निमित्तनैमित्तिक भाव में जहां यह जाना कि ये विकार निमित्त सन्निधान पाकर हुए हैं, मेरे स्वभाव में मल नहीं है, मेरे स्वभाव की चीज नहीं है, ऐसा ज्ञान होते ही स्वभाव का परिचय बने कि मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूं। सर्व कथनों का प्रयोजन इतना जानना कि अपने वास्तविक स्वरूप का परिचय करना है। इस परिचय के बिना जगत में हम अनादि से अब तक रुलते चले आये, कितना काल व्यतीत कर दिया अशान्ति में ? उसकी कोई सीमा है क्या ? काल की सीमा नहीं तो हमारे भटकने की भी सीमा नहीं। क्या कोई ऐसा दिन हुआ है कि कबसे समय शुरु हुआ है ? यदि शुरु हुआ है तो उससे पहले समय न था ऐसा हो सकता क्या ? समय अनादि से है और हमारी घटना भी अनादि से है। अब तक भटकते चले आये, अशान्त होते आये, प्रत्येक भव में हम अशान्त रहे और तारीफ यह कि अगर पहले भवों की अशान्ति की आज खबर होती तो इस भव की अशान्ति में हम न पड़ते।

अशान्त होते रहने के कार्य करने की मूढ़ता बनाये रहनेमें लाभ का अभाव—देखो पहले अनन्त-भव गुजर गए, बेहिसाब अशान्त रहे उसकी खबर भी नहीं है, और पहले की तो खबर नहीं सो ठीक, मगर कोई इस भव की भी तो बताये कि जब हम मां के पेट में थे तब तकलीफ पा रहे थे ना। तुम्हें याद है क्या आज ? सभी तो मां के पेट में थे, गर्भ में थे, तकलीफ में थे कि नहीं ? सिकुड़कर रहते थे, औंधे मुख रहते थे। बस जो नाल होती है

माता के आहार से उस नाल द्वारा जो अपनी टुड्डी में लगी रहती है, निकलने के बाद जिस नाल को काटा जाता है बस उसके ही द्वारा आहार मिलता था। ऐसा कठिन घोर दु:ख था, मगर किसी को याद है क्या ? अच्छा तब की बात भी जाने दो, जब गर्भ से बाहर निकले तबके भी दु:ख याद हैं क्या ? दो चार महीने के थे तबके दु:ख याद हैं क्या ? अशान्त हम कब से रहे आये इसकी कुछ याद है क्या ? कुछ याद नहीं। कुछ दूसरों की अशान्ति देखकर अनुमान होता है। युक्ति द्वारा अशान्ति का परिचय होता है। तो अब तक अशान्त रहे आये, पर अशान्त होते तो चले आये बेहिसाब लेकिन बेहिसाब अशान्ति करके भी ऊबे नहीं क्या ? जब कहीं कोई बड़ा झंझट हो जाता है तो बड़ा त्याग करने की भी बात सोच डालते हैं। मगर अशान्ति बेहिसाब है, यहां ऊब नहीं आती। दु:खी होते जाते और उससे ऊबते नहीं। मन में नहीं आता कि इस अशान्ति के वातावरण के माध्यम से हम दूर हों और शान्तिधाम जो मुक्ति है बस उसके पात्र बनें, चित्त में आता ही नहीं, लड़के मारते जाते हैं, उन्हीं से प्यार करते जाते हैं। बूढ़ों की क्या दशा होती है। बच्चों का खिलाना तो बूढ़ों के जिम्मे रहता है ना, जवानों को तो काम लगा है, और बूढ़े निठल्ले रहते हैं। तो वे बच्चे उस बूढ़े के कंधे पर बैठते ऊपर मूत भी करते हैं, मारते हैं, मूंछ भी पटाते हैं, हाथ झकझोरते हैं, वह बूढ़ा हैरान होता है, दु:खी होता है। मानो वहां निकला कोई संन्यासी, वह पूछ बैठा—अरे बूढ़े बाबा ! तुम क्यों रोते हो ? तो वह बूढ़ा बोला—महाराज ये नाती पोते हमें बहुत हैरान करते हैं।··· तो क्या हम तुम्हारा यह दु:ख दूर कर दें ?····हां महाराज आपकी यह तो हमपर बड़ी कृपा होगी। वह बूढ़ा तो जानता था कि संन्यासी जी कोई ऐसा जादू पढ़ देंगे जिससे ये नाती पोते हमारे चरणों में लौटते फिरेंगे, पर संन्यासी ने कहा—अच्छा तो तुम छोड़ दो घर, छोड़ दो ये नाती पोते। तुम तो हमारे साथ चलो, तुम्हारे ये सब दु:ख खतम हो जायेंगे। तो वह बूढ़ा बोला—अरे चाहे ये नाती पोते हमें मारें पीटें कुछ करें पर ये हमारे नाती पोते ही कहलायेंगे, और हम इनके बाबा ही कहलायेंगे, तुम तीसरे कौन आ गये हमारे बीच में रिश्ता खतम करने ? तो भाई ये जीव अशान्ति पाते, दु:खी होते जाते, फिर भी अशान्त होकर ऊबे नहीं।

अशान्तिकर विकल्पों को तजकर शान्त ज्ञानभाव का आदर करने का विवेक—अहो देखो कभी ज्ञान की बात भी, धर्म की बात भी मुख से बोलें, ज्ञान वैराग्य की बात भी खूब कहें, पर चित्त में यह नहीं चाहता कि कभी कभी अपने स्वभाव की ऐसी दृष्टि तो करें। कहीं अकेले बैठकर किसी जगह लेटे हुए ही, मानो नींद नहीं आ रही तो यही काम करें। मैं अपने को ऐसा निरखता रहूं कि मैं ज्ञानमात्र हूं, इतना ही हूं, इससे आगे नहीं, ऐसी कुछ दृष्टि बनायें, सो अशान्त होकर भी अब तक ऊबे नहीं। अच्छा तो यह बतलावो कि क्या अशान्त ही रहना चाहते हो ? तो उत्तर तो यही आयगा कि अशांत तो नहीं रहना चाहते। शान्त होना चाहते हैं। तो कब होना चाहते सो बताओ इस भव में तो नहीं होना चाहते तो अगले भव की कुछ आशा है क्या ? जब इस भव में अशान्त रहते, उद्विग्न रहते तो अगले भव की यह आशा तज दो कि हम शांत रहेंगे। यदि आज हम न सुधरे, न सम्हले, कषायों को नहीं छोड़ते, ममता नहीं त्यागते तो अगले भव में कुछ आशा है क्या कि हम अच्छे रहेंगे ? यदि अगले भव में शांत होना चाहते हो तो अभी से शांति का उद्यम करो। अच्छा कैसे उद्यम करें ? तो निर्णय बनाओ कि यह अशान्ति हमें हुई क्यों ? वास्तव में अशान्ति के काम हमने किये नहीं, किन्तु कर्मोदय आया, उसका प्रतिफलन हुआ, ये विकार बने, यहां तक तो बात ठीक चली। सब ईमानदारी की बात है। अब हम उससे घबड़ाकर अधीर होकर, कुछ अंधे से बनकर कुछ ज्ञान तिरस्कार की वजह से हम बाहर ढूकने लगे और इस उपचरित निमित्त में जो बाह्य विषयभूत हैं उनमें उपयोग जोड़ने लगे, अशान्ति का अनुभव करने लगे। देखो भेदविज्ञान की एक सही बात कि जो कर्मोदय हुआ, जो छाया, माया, प्रतिबिम्ब प्रतिफलन जो कुछ भी हुआ, ऐसा सम्बंध है कि जीव में उपयोगरूप होना तो उस उपयोग में आया, फिर हमने उसे चेता, अनुभवा, बस विडम्बना बन गई। जैसे दर्पण के सामने कोई चीज

हुई, प्रतिबिम्ब हुआ, हुआ उस दर्पण में ही, फिर भी आप किसका कहेंगे ? दर्पण में प्रतिबिम्ब है सो कहते हैं दर्पण का, मगर दर्पण का स्वरूप तो नहीं। अपने आप हो जाय यदि दर्पण की चीज हो तो। तो जैसे यहां विदित होता कि वह छाया इस सन्निधि में आगत पदार्थ की है। जैसे कि व्यवहार में बोलते हैं, ऐसे ही यह समझिये कि जितने उपद्रव हैं, उपसर्ग हैं, फंद हैं, विकार हैं वे कर्म निष्पन्न हैं, और हम उसको अपनाते हैं, उसको अपनी चीज समझ लेते और हम फंद में पड़ जाते हैं। यह ही भेदविज्ञान कर लेना कि ये परपदार्थरूप मैं नहीं हूं।

कर्मरागरस से हटकर निजरस की प्राप्ति का पौरुष—अशांति का हमने नहीं किया याने इस चित्स्वरूप आत्मा का स्वभाव निरखो और स्वभाव का प्रतिनिधि बनकर बोलो। यह सब तो कर्मविपाक जानना। देखो प्रकृत तत्त्व में भी प्रताप पड़ा हुआ है। जब राग विकार जगता है और वहां कर्मत्वपरिणमन होता है तो देखो उस ही समय ये चारों बातें निश्चित हो गईं कि इस कर्म में इस प्रकार के फल देने की आदत बनी है। देखो आगे करोड़ों वर्ष की स्थिति है और निर्णय अभी हो गया बंध के समय, क्योंकि बंध ४ प्रकार का है और चारों ही सुनिश्चित हो गए। इतने परमाणुवों का निषेक इस समय उदय में आयगा, इस समय उदय में आयगा, ऐसा बंटवारा बन गया। इतने समय तक यह रहेगा और इतनी डिग्री में फल देगा। जहां बंध के समय ही सारा निश्चय हो गया तो अब यह बतलावो कि वह काल्पनिक निमित्त है या अन्वयव्यतिरेकी निमित्त है ? अब उसका उदय आया, उसका प्रताप खिला, अनुभाग खिला, गल्ती हमारी यह है कि हम अपने ज्ञानस्वरूप को सम्हालते नहीं और बाह्य विषयों में उपयोग जोड़ते हैं। तो बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ यही तो करना है कि अपने ज्ञानस्वरूप को सम्हाल लें और बाह्य विषयों में अपना उपयोग न जोड़ें जिससे यह बात जितनी करते बनेगी उस शुद्ध कार्य का निमित्त पाकर कर्म में सम्वर निर्जरा बनती है। निमित्तनैमित्तिक भाव दोनों ओर से है। आत्मा के विशुद्ध परिणाम का निमित्त पाकर कर्म में सम्वर निर्जरा और जिस जिस शक्ति के जो कर्म उदय में हैं उनके अनुसार क्योंकि वह प्रतिफलन ही है वह तो बिल्कुल अनुरूप है। अब यहां जो चेता, अनुभवा, बस यहां भेदविज्ञान करना है। जैसे कोई चीज ठंडी है, पानी ठंडा है और उससे नहाया या उसे पिया और उस समय अपने को ठंडा अनुभव हुआ तो यह पदार्थ का ठंडापन मुझ में है या ठंडे के विषय का अनुभव मुझ में है ? ठंडापन मुझ में नहीं हो सकता, क्योंकि ठंडापन मूल में पुद्गल की बात है और उस ठंडे का अनुभव मुझ में रहा, लेकिन सम्बंध देखिये—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पौद्गलिकावस्थाया इत्यादि समयसार के शब्दों में उस प्रकार के अनुभव कराने में समर्थ जो पुद्गल की शीत उष्ण अवस्था है, यहां समर्थ का अर्थ निमित्त या विषयभूत तो यहां जो भेदविज्ञान करने लगे—मैं ठंडा नहीं, किन्तु ठंडे विषयक ज्ञानानुभव उसकी परिणति में है। जैसे यहां भेदज्ञान करना है वैसे ही यहां भेदज्ञान करना है कि कर्मानुभाग का प्रतिफलन या अनुभाग या क्रोध, मान, माया, लोभ जो कर्म का परिणाम है वह मैं नहीं, किन्तु उसको चेतने और अनुभवने का जो उपयोग परिणमन है वह उनकी परिणति है। यहां भेदविज्ञान करे कोई तो यह है मौलिक भेदविज्ञान। बाहरी पदार्थों का भेदविज्ञान तो सारी देहाती जनता भी पुकारती है। घर मेरा कहां ? शरीर मेरा नहीं। मर गए, हंस उड़ गया, मिट्टी पड़ी रह गई, सभी तो पुकारते हैं, पर वह भेदविज्ञान कायम क्यों नहीं रहता कि यह मौलिक भेदविज्ञान नहीं पाया। अब देखिये यह भेदविज्ञान की बात जो सुनने में भी कठिन लगती है, मगर उसका प्रयोग पशु भी कर लेते हैं, पक्षी भी कर लेते हैं। जिन जिनके मन हैं वे उसका प्रयोग कर सकते हैं तब ही तो सम्यक्त्व जगता। सबकी बात नहीं कह रहे, जिन पशु-पक्षियों को सम्यक्त्व जगता उनकी बात है। जो ये कम जानते हैं। तो क्या हम इस निज तत्त्व को नहीं पा सकते ? वह प्रयोगसाध्य बात है, तो मैं अशान्त नहीं। मेरे स्वरूप में अशान्ति नहीं, मैंने अशान्त नहीं किया। यह सब मैं का, सहज स्वभाव का प्रतिनिधि बनकर बोलना होगा।

कर्मविपाक व कर्मविपाकप्रतिफलन से विविक्त अन्तस्तत्त्व की दृष्टि का कर्तव्य—यह दृश्य सब

है कर्म का उपद्रव, कर्म का नृत्य। कहते हैं ना कि पुद्गल नाचता है तो नाचे, यह नाट्य करने वाला है, इसमें मेरा कुछ नहीं। यह सब स्वभाव को देखकर ऐसा ज्ञानप्रकाश लाया जा रहा है। कर्मप्रकृति का विपाक था, उसका विस्फोट था, क्षोभ था, जिसको कि चेता, अनुभवा मायने अपनाया। मेरे स्वरूप में अशान्ति नहीं, यह बात यहां तकी जा रही है? तो जब कर्माक्रमण है याने कर्मोदय है, कर्म में कर्म का परिणमन है और वह उपयोग में आया उस समय इस जीव ने बाह्य नोकर्म में उपयोग जोड़ा। अब ये कर्म बाहर पहुंच गए उपयोग द्वारा और यह दुःखी होने लगा। तो देखो दुःख के समय में भी ऊपरी काम कर रहे या भीतरी? भीतर की बात तो पहले बतायी ना कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। यह मैं अशान्ति नहीं करता और हुई अशान्ति तो यह ऊपरी काम है हमारा। बाह्य पदार्थों में उपयोग न जोड़ें और उसके सारे ऊपरी काम न करें तो कोई कठिनाई की बात न आयगी और जो समझ जायगा वह मान जायगा कि हां न करेंगे ऊपरी काम। याने इन बाह्य पदार्थों में उपयोग जोड़ने का काम न करेंगे तब हमारा कल्याण ही है। बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ भी यही करना है। विषयों में उपयोग नहीं जोड़ना और अपने में अपने को ज्ञानमात्र हूं ऐसी दृष्टि बनाना है। जो मूल काम हैं, लक्ष्य के काम हैं उन्हें करते जायें। ये बाहरी नटखट, दंदफंद, कषाय, आग्रह इन कामों में जब पड़ जाता है यह जीव तो अपने लक्ष्य से हट जाता है और जीवन को बेकार गंवा देता है। तो सही लक्ष्यपर आवो, साधनों में विवाद न करो, अपने आपको आत्महित में लगाओ।

कषाय का आग्रह तजकर आत्मस्वरूप का आग्रह करने में दुर्लभ मानव-जीवन की सफलता— यह मानव-जीवन बड़ा दुर्लभ है। अगर पक्ष में, कषाय में, आग्रह में समय लगा दिया तो यह अपने जीवन का दुरुपयोग है। सीधे आवो, सही लक्ष्य बनाओ और सर्व वचन सुनकर अपने लक्ष्य की बात निकाल लो। तो क्या किया जीवने? अपने ही उपयोग का व्यापार किया। कहां किया? अब तक बाह्य पदार्थों में उपयोग लगाया। तो अब वह मैदान बदल दें। अपने अन्तर्धाम में आइये और अपने अन्तः निरखिये। निजधाम में आकर देख लो अपना अंतः प्रताप क्या कि यह चैतन्य चित्वृत्ति जगमगा रही। जो अपना निज ज्ञानस्वरूप है बस यहां ही भीतर ही अपने इस जगमग ज्ञानस्वरूप को देखिये भीतर क्या है? उपद्रव उठ रहा क्या? अपने आपके स्वरूप से, स्वभाव से उपद्रव की बात नहीं बनती। उस चैतन्यस्वरूप को निरखिये उस ही सर्वविशुद्ध चैतन्य का प्रतपन हो याने उपयोग वहीं रहे, यह उठेगा उपयोग क्योंकि अभ्यास नहीं, ज्ञान नहीं कि इस चैतन्य कुञ्जी में मैं अपने उपयोग को बैठाले रहूं। आकांक्षायें हैं बहुत सी, पूर्व के संस्कार हैं ना? अरे ५-६ वर्ष का बालक भी तो मां उसे बहुत पकड़कर गोद में रखती, पर रहता नहीं, भगता है बाहर। तो यह जीव तो अनादि काल का बड़ा अभ्यस्त हो रहा था, मगर यह चैतन्यमात्र कहे कि तू मेरी गोद में रह, क्यों दुःखी होता? तो यह अज्ञानी उस गोद में रहना नहीं चाहता, उसमें ऊब मानता है और बाहर उठकर भागता है, किन्तु जो विवेकशील है, समझदार है, जिसने तत्त्वनिर्णय किया वह इसकी ही धुन बनाता कि मैं अपने चैतन्यस्वरूप में ही संयत बनकर रहूं। यदि चैतन्य में यह उपयोग प्रतप्त रहे तब वहां विकल्प में नहीं आता। ठहरता ही नहीं विकल्प। उस समय यह स्वयं अनुभव करता कि अहो कैसा पवित्र है यह सर्वविशुद्ध चैतन्यप्रकाश? यही चित्, यही स्वरूप, यही मैं। स्वीकार करता, ॐ ॐ, यही मैं हूं, यही रहूं, यही सत्य है, यही शिव है, यही सुन्दर है। ॐ तत् सत्। ऐसा ही मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। इतना ही जिसके अनुभव जगता, धुन बनती, ज्ञान होता, उसका संसार-संकट अवश्य ही टल जायगा।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन पंचादश भाग समाप्त ॥

षोडश भाग

यदि कल्याण चाहते हो तो परमाणुमात्र में भी राग नहीं होना चाहिये। राग की कणिका भी बढ़कर भयंकर ज्वाला का रूप रख लेती है। राग के अनुरूप योगवश बाह्यपदार्थ का परिणमन होता रहे और उसमें राजी रहोगे तो उसका फल नियम से किसी घटना में भयंकर भोगना होगा। ऐसे अनेक अनुभव पाकर भी राग से विराम नहीं लेते। आत्मन् अपने आप अपना विनाश मत करो, एकदम क्रान्ति लावो, अपने अन्तःप्रकाशमान प्रभु की आराधना में उपयोग लगाओ। सहज परम आनन्द स्वरूप यह स्वयं है, फिर इससे चलित रहने की आवश्यकता नहीं। अनवच्छिन्न धारा से निरखो=अहा— यह है परमप्रतापी·· सहजानन्द तेज·· ॐ·· ॐ·· ॐ तत् सत् शुद्धं चिदस्मि।

देव शास्त्र गुरु की उपासना से अपने को रागकलंकरहित बनाने की प्रेरणा—जीव जीव तो स्वरूपवत: एक ही प्रकार के हैं, लेकिन भोगानुभव तो पर्याय के अनुरूप होता है, इसलिए पर्याय सम्बंधी बात कहना भी उपयुक्त है, जिन जीवों की पर्याय शुद्ध हैं, जहां रागद्वेषादिक विभाव रंच भी नहीं है और रागादिक विभावों का हेतुभूत निमित्त कारण कर्म भी नहीं है ऐसा जो भव्य आत्मा परमात्मा अरहंत है और भव्यत्व के विपाक से उत्तीर्ण सिद्ध भगवान हैं वह परमकल्याणरूप हैं। हम उनकी आराधना क्यों करते हैं कि वे हमारे आदर्श हैं। देखते ही यह बोध होना चाहिए कि मुझको ऐसा होना है। परमात्मा से हमारा नाता कोई रिश्तेदार के ढंग का नहीं है, और कोई परव्यक्ति के ढंग का भी नहीं है। है यद्यपि वह परपदार्थ, लेकिन स्वभाव के नाते से नाता चलता है। जो स्वभाव मेरा है वही स्वभाव उनका है। उनका स्वभाव विकसित हो गया है इसलिए वे आदर्श हैं, उदाहरण हैं। उदाहरण देवे और उसके बनने का उपाय बताये वह शास्त्र और उदाहरण के अनुरूप जो चले सो गुरु। जैसे कोई संगीत सीखता है तो सीखने वाला बालक अपने चित्त में कोई उदाहरण लिए रहता है, जो हिन्दुस्तान में सबसे अच्छा संगीतज्ञ हो, चाहे उसे देखा कभी नहीं, केवल नाम सुना है, तो उसके चित्त में यह रहता है कि संगीत में पूर्ण निपुण ऐसा होना चाहिए। वह उदाहरण रहता है कि मुझको ऐसा बनना है, फिर संगीत सीखने के जो शास्त्र हैं, सरगम आदिक की विधि जिनमें बतायी गई हैं, जिनमें भजन आदिक हैं सरगम के अनुरूप दिए गए हैं वे उनके शास्त्र हैं। जो संगीत सीखने वाले हैं और जो सिखाने वाला उस्ताद है वह उनका गुरु है। तो जो परमकल्याणार्थी हो गए हैं वे हमारे धर्म के देव हैं, वीतराग सर्वज्ञ अरहंत सिद्ध प्रभु और उस प्रकार की स्थिति में पहुंचाने के जो उपाय बताते हैं वे सब शास्त्र हैं। वस्तुस्वरूप बतायें, भेदविज्ञान करायें, अभेद स्वरूप दिखायें और सर्व प्रकार की प्रेरणा दें, चारों ओर से एक मोर्चा बना दें कि भाई चरणानुयोग से अपनी पात्रता बनाये रहें, व्यसन और पापों में न लगें और सम्यग्दृष्टि के पात्र बने रहें। करणानुयोग से परीक्षा करते रहें कि हम ठीक मार्ग में चल रहे या नहीं। प्रथमानुयोग से कल्याणमार्ग में चलने वाले पुरुषों के उदाहरण सामने रखे रहे ताकि मोक्षमार्ग में चलने की उमंग रहे। युक्तिशास्त्र से, युक्ति से वस्तु के स्वरूप को पहचानें और अध्यात्मशास्त्र से अपने अन्तर में निरखें। सभी उपायों से इस मुक्ति के पथिक को चलना बताया है। तो इस पथपर जो चलता है उसका नाम एक है, जो इस पथपर चलता है उसका बाहरी भेष क्या बनता है? यही कहलाता है निर्ग्रन्थपद। तो कल्याणमय जो प्रभु हैं उनके स्वरूप को देखकर अपने में उमंग बनावें कि मेरे को क्या झंझट लगे हैं? विकल्प है, रागद्वेष है, बिना काम का एक परवस्तु का लगाव है। मकान, पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक कुछ भी तो नहीं हैं इस जीव के, अत्यन्ताभाव है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कुछ भी नहीं लगता और फिर भी उनमें उपयोग फसे तो यह तो एक बिडम्बना है। हे प्रभो! आप इस विडम्बना से सदा के लिए मुक्त हो गए हैं। तो प्रभु का ध्यान रखकर हमको सीखना है कि मैं भी विराग होऊं।

परमाणुमात्र भी राग की भयावहता—यदि कल्याण चाहिये हो अपने आपकी तो राग की कणिका

भी न रहनी चाहिए। वास्तविकता तो यह है, क्योंकि राग की कणिका भी हो तो कालान्तर में वह भयंकर रूप रख सकती है। देखो जहां राग की कणिका नहीं है, समस्त राग उपशान्त हो गए हैं और वीतराग अवस्था हो गई है ऐसा ११वां गुणस्थान है उपशान्त मोह, उस काल में राग का क्या कुछ अनुभव बनता है ? नहीं। मगर वह प्रकृति दबी हुई है, उदयकाल आता है, खिल जाता है। तो उपयोग में, पर्याय में राग नहीं है आत्मा के, तिसपर भी राग का निमित्तभूत राग प्रकृति सत्ता में बैठी है। लो यही एक भयानक बन गया। तो जो लोग राग का रंच भी अनुभव कर रहे हों उनको तो पदपर मौका है कि यह राग अपना विशालरूप रख ले और इसे भयंकर परिस्थिति का सामना करना पड़े। किसी से भी राग बनता है तो प्रारम्भ में थोड़ा बोलचाल, थोड़ा राग रहता है, फिर वही बढ़ते-बढ़ते घनिष्ट आसक्ति का रूप रख लेता है। तो यह हुआ ना निर्णय में कि यदि कल्याण चाहते हो तो परमाणुमात्र भी राग न होना चाहिए श्रद्धा में तो यह बात पूर्ण हो ही जानी चाहिए कि परमाणुमात्र भी राग न हो। परमाणुमित्तयंपिहि रायादीणं दु विज्जदे जस्स णवि जाणदि अप्पाणं। जिस जीव के रागादिक अज्ञानभाव का लेश भी है वह आत्मा को नहीं जानता, अपने को नहीं जानता। जो अपने को न जानेगा वह जीव अजीव को नहीं जानता। जो जीव अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे ? यह बात कही गई श्रद्धा की अपेक्षा, फिर भी ऐसा पौरुष तो होना ही चाहिए कि चारित्र गुण भी ऐसे निर्मल बनें कि जहां राग का लेश भी न रहे। तो श्रद्धा में परमाणु मात्र का राग न रहे अर्थात् राग मेरा स्वरूप है, राग मेरा हितकारी है, राग से मेरा काम है। राग का राग रंच मात्र भी न रहना चाहिए, और इसकी पहिचान क्या है कि राग उठ रहा है तो उससे वैराग्य बने। यह राग मुझे न चाहिए। देखो स्थिति बन जाती है। जब सही ज्ञान का अभ्युदय है तो कर्मवश विषय में, राग में लगना पड़ रहा और फिर भी भीतर धारणा यह रहती कि यह विडम्बना मेरी कब छूटे ? तो राग से राग होना मिथ्यात्व है और राग से विरक्त होना बस यह ही सम्यक्त्व का चिन्ह है, तो परमाणुमात्र भी राग न हो तब ही हम अपना कल्याण पा सकते हैं और राग बन रहा है तो कम से कम इतनी कला तो आ जानी चाहिए, उस राग में हमको प्रीति न जगे। झंझट दिखे और भावना यह बनें कि यह राग कब छूटे, कैसे छूटे ?

विराग पावन आत्मावों के सत्संग से पावन होने की प्रेरणा—गुरुजनों, साधुजनों के सत्संग में यह बात तो सीखी जाती है। जब उसका उदाहरण सामने होता है तो चित्त में एक मार्ग मिलता है। इस तरह चलो। उत्साह जगता है। कोई पुरुष नदी में से पार हो रहा ओर दूसरे किनारे लगने जा रहा, तो पार हो रहे हुए आत्माओं को देखकर साहस होता है, निःशंकता होती है, तो वे तो जा रहे इस तरफ से, इस रास्ते से किनारे लगने को तो यह ही रास्ता मेरा है। इसी से चलकर हम भी किनारे लगेंगे। तो जो किनारे लग चुके हैं उनको देखकर भी उमंग होती कि यों किनारे पहुंचकर वे लोग पहुंच तो गए और जो नदी में से चल रहे हैं किनारे जाने के लिए उनको देखकर भी उमंग होती है कि इस रास्ते से चलें तो पहुंच जायेंगे। देखो वे भी तो जा रहे हैं, पहुंचने वाले हैं, ऐसे ही कल्याणमय देव को निरखकर भी उमंग होती है और कल्याण पथ में चलने वाले गुरुजनों को देखकर भी उमंग होती है कि इस पथ से चलना चाहिए। वह पथ क्या है ? ज्ञान और वैराग्य। विभावों से राग हटे, ज्ञान में उपयोग लगे। ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व में उपयोग जमे, यह ही तो करना है।

शुभोपयोग को उपयोगिता—अन्तस्तत्त्व में उपयोग लगाने का प्रोग्राम जब करने चलते हैं और करते नहीं, केवल गप्प ही गप्प मारते, बात ही बात करते तो उससे तो कुछ बात बनती नहीं। न खुद से, न दूसरे से, किन्तु उस पर जो एक प्रयोग करने चले तो उस पर ही सब बात बीतती है जो चरणानुयोग में दिखाया है, क्योंकि वहां वासनायें सतातीं। जो लगा हुआ है अज्ञान, पहले था अज्ञान अब तो मिट गया। तो उनका भी आक्रमण होता

है, उसका भी तो मुकाबला करना पड़ता है। तो उसी का मुकाबला करने से हमारा शुभोपयोग होता है और उस शुभोपयोग में हम कुछ सुरक्षित रहते हैं, याने शुद्ध दृष्टि के पात्र रहते हैं। और वहां शुद्ध दृष्टि कर सकते हैं। अशुभोपयोग के बाद किसी भी जीव को शुद्धोपयोग नहीं बन सका। जिसे भी शुद्धोपयोग होता है उसे शुभोपयोग के अनन्तर ही होता है। तो मालूम होता है कि शुभोपयोग एक ऐसी सुरक्षा की जगह है कि जहां हम ऐसे पात्र बन जाते हैं कि हम वहां शुद्ध का साधन कर सकते हैं। तो राग से हटना किस तरह होता है कि पहले उस राग का उपयोग बदल दें, देव, शास्त्र, गुरु में बना लें और वहां रहकर उन रागों से तो हम बच गए, सुरक्षित हो गए। अब यहां अपने ज्ञान की उपासना, आराधना बनावें और अपने इष्ट तत्त्व को प्राप्त करलें। तो इस जीव को राग रंच मात्र भी हो तो कुछ ही काल में वह भयकर ज्वाला का रूप रख सकता है। राग के अनुरूप योगवश बाह्य पदार्थों का परिणमन हो जाय और उसमें यह जीव मौज माने तो उसका फल नियम से किसी घटना में भयंकर होता है। घर में रहने वाले लोग जिस किसी से अधिक प्रीति रखते हैं पिता से, पुत्र से, पति से, स्त्री से, जिस किसी से भी अधिक आसक्ति रखते हैं तो जब तक जीवित हैं तब तक तो मौज मानते हैं और जब वियोग होता है तब उनको इतने क्लेश होते हैं कि मानो सारे जीवन भर के मौज के एवज का क्लेश होता है तो राग का फल नियम से भयंकर है। राग के समय भी बुरा है और अन्त में वियोग होने के समय में भी बुरा है।

राग में कष्ट की अवश्यंभाविता—भैया ! अनेक अनुभव पाये होंगे सबने कि राग रख रखकर हमने कष्ट ही कष्ट पाये। बड़े-बड़े पुराण पुरुषों के चरित्र देख लो। श्रीराम और सीता जैसी शीलवती नारी, और भी जिनधर्म में अनुरागी लोग जो कुछ थोड़ा राग था, राग ही तो था। न हो मोह, मोह बिना राग है वह भी जब इसका विकट रूप धारण कर लेता तो जहां मोह भी है, राग भी है वहां की कहानी कौन बताये ? उस राग में भी ठाठ मिला पुण्य का और बीती क्या उनपर ? उस राग में श्रीराम को अथवा सीता को बचपन से लेकर अन्त तक जब तक कि दीक्षा नहीं ले लेते तब तक का सारा जीवन देखिये कष्टमय। और देखो लोक के लिए आदर्श पुरुष वे ही होते जिन्होंने कष्ट झेला। जो आराम में घर में रहे। जैसे कि बादशाह रानी जैसे मौज में रहे, उनके चरित्र कौन सुनता ? जिसने कष्ट झेला और कष्ट में भी अपने धर्म को नहीं छोड़ा, ऐसे पुरुषों की ही तो महिमा गायी जाती है। तो राग रहता है उनका फल कष्ट है मगर अपना ज्ञान और अपना सदाचार न छोड़ें जो उससे अपनी विजय है। राग में अनेक बार कष्ट ही कष्ट पाये, निरन्तर कष्ट ही कष्ट पाये। पर राग से विश्राम क्यों नहीं लेते, विराम क्यों नहीं लेते ? कुछ न चाहिए मुझे राग। राग करते तब दुःख और जिसमें राग करते उसका वियोग हो जाय तब दुःख। और तब सोचते हैं कि इसके अच्छा तो यह होता कि मिलन ही न होता। तो राग में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कष्ट ही कष्ट है। सीता ने क्या सुख पाया अपने जीवन में ? एक कथानक के अनुसार सीता रावण की पुत्री थी, लोगों ने कहा कि इसके कारण रावण का विनाश होगा तो रावण ने पुत्री को मारा तो नहीं, पर एक मंजूसा में रखकर बहा दिया। वह मंजूसा बहकर जनक के राज्य में पहुंचा। नदी का पूर हट गया, खेत सा बन गया, किसी को वह मंजूसा मिल गया, उसने भेंट किया राजा जनक को। राजा जनक ने उसे पाला, बड़ी हुई, उसका स्वयंवर रचा गया। तो बड़ा कथानक है। स्वयम्वर में भी बड़े विघ्न और बड़ी लड़ाई के मौके हुए। बाद में कुछ समय बाद राम का राज्याभिषेक होने को था तो उसी समय केकई ने यह देखकर कि दशरथ को वैराग्य हो रहा, भरत भी विरक्त हो रहा तो मैं पति बिना, पुत्र बिना कैसे रहूं, तो किसी कला कौशल में वरदान मिला था तो वरदान में अपने पुत्र भरत को राज्य दिलाया। वहां श्रीराम ने सोचा कि मैं यदि यहां रहूंगा तो मेरे भाई भरत का प्रताप न बढ़ सकेगा इसलिए श्रीराम जंगल चले गए। जंगल में सीताहरण का दुःख उठाया। कुछ समय बाद गर्भ रहा, लोकापवाद से सीता को जंगल में छोड़ा, लव कुश हुए, श्रीराम से लड़ाई हुई, फिर सीता को लाये, अग्निपरीक्षा की। यों

कष्ट ही कष्ट जीवनभर रहा। कष्ट से कब निवृत्त हुई सीता, जब कि अर्जिका का व्रत लिया, दीक्षा लिया, राग छोड़ा तब से उसका जीवन बदला। यही श्रीराम की गति हुई। अन्त तक कष्ट ही कष्ट। श्रीराम का कष्ट भी तब मिटा जब उन्होंने निर्ग्रन्थ पद लिया। तो संसार का यह समागम जो राग का एक बहिरंग हेतु है उपचरित निमित्त है, उसका परित्याग करें और भीतर में अपनी विभावों से निवृत्ति बनायें और सहज ज्ञानस्वभाव में अपना उपयोग लगायें। यह ही एक कल्याण का उपाय है। अन्य और कुछ बात चित्त में न होना चाहिए। हे आत्मन्! राग से राग बनाकर राग में मौज मानकर अपनी करतूत से अपना विनाश मत करें, यह भीतर सावधानी रहे और ज्ञान और राग में वृत्ति बनाये रहें यह राग निमित्त है कर्म का प्रतिफलन है, यह मेरे स्वभाव की चीज नहीं है। यह मेरे को दु:ख का हेतुभूत है और यह मैं ज्ञानस्वरूप स्वयं ही स्वत: हूं, दु:ख का हेतु नहीं हूं। मैं ज्ञान को ही अपनाऊंगा। ज्ञान ही ज्ञान मैं हूं ऐसी अपनी प्रतीति रखेंगे और ऐसा ही भीतरी पौरुष करें, इस रागभाव से विराम लेना चाहिए।

आत्मक्रान्ति करके विरागता का लाभ लेने का संदेश—आत्मन्! राग करके अपने आपका विनाश मत करो और एकदम भीतर क्रान्ति लावो तो मैं ज्ञानमात्र ही हूं। ज्ञानस्वरूप को छोड़कर अन्य मेरा कुछ भी नहीं है। परमाणु मात्र भी नहीं है। अत्यन्त भिन्न द्रव्य हैं सब, ऐसा जानकर विरक्ति लावो और अपने आपके ज्ञानमात्र भाव में संतोष पावो। आनन्द कहां ढूंढ़ना बाहर? आनन्दस्वरूप तो यह है ही। इस ब्रह्म के कुछ दार्शनिक तीन रूप मानते हैं भिन्न-भिन्न। कोई तो इस ब्रह्म को ज्ञानरूप ही कहते हैं। कोई ब्रह्म को सत् रूप कहते। उनकी दृष्टि में सारा पदार्थ समूह ब्रह्म ही है। कोई ब्रह्म को ज्ञानरूप कहते। उनकी दृष्टि में पुरुष ब्रह्म है, प्रकृति जड़ है। पुरुष माने आत्मा, चैतन्य और कुछ दार्शनिक ब्रह्म का रूप आनन्द मानते हैं। आनन्दं ब्रह्मणो रूपं। तो आनन्द और चेतना ये दोनों इस ब्रह्म के रूप हैं। तो आनन्दमय तो तुम ही हो। अपने आपको देखो! आनन्द के लिए कहां बाहर उपयोग लगाया जा रहा है? जब तुम ही स्वयं आनन्दस्वरूप हो तो यहां से चलित होने की आवश्यकता नहीं है। एक निरन्तर अनवच्छिन्न धारा से केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने को निरखें। देखो प्रयोग जब करते हैं तो ऐसे ही प्रयोग के लिए जो भीतर लालायित हैं ऐसे पुरुषों का संग बनावें, सत्संग बनावें और जिससे अपने को इस ज्ञानज्योति की आराधना में उमंग मिलें, ऐसी बातें बोलें, शास्त्र का अभ्यास बनावें तो सत्संग और स्वाध्याय ये दो हमारे उपयोगी साधन हैं और हमको ये सदा प्राप्त हो सकते हैं। भले ही सत्संग प्राप्त न हो, कभी कभी हुआ करे स्वाध्याय, ज्ञान-लाभ यह तो अपनी आधीन बात है, करें स्वाध्याय तो जिस किसी भी प्रकार मेरा उपयोग ज्ञानज्योति को ही निर-खता रहे, ऐसी स्थिति हमारी बने तो एक वह ऐसी पावन पर्याय है कि जिसमें कष्टों के आने का अवकाश नहीं और भव भव के बांधे हुए कर्म खिर जायेंगे, क्योंकि अविकार ज्ञानस्वरूप की आराधना में रागभाव सूख जाता है। जैसे कोई धोती धोई और उसे खूंटे में बांध दें और एक खूंट से खुल जाय, जमीन पर गिर जाय, उसमें धूल चिपक जाय तो कोई पुरुष उस धूल को हाथ से छुटाता है, लाठी से झराता है, पर उसे विवेकी पुरुष मना करता है अरे ऐसा मत कर। तुम तो इस धोती को ऐसे ही सूखने डाल दो, सूख जाने पर गीलाई खतम हो जावेगी, धूल जरासे झिटके से झड़ जायगी। तो ऐसे ही समझो कि हम आपमें कषायों की गीलाई लगी हुई हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों का गीलापन है और यहां कर्मधूल आकर चिपटी है, तो इस कर्मधूल को हम इन बाह्य क्रियावों से कैसे दूर करें? उसका परिहार ज्ञानप्रताप से होगा।

चरणानुयोग की उपयोगिता—बाह्य क्रियायें तो हम पाप और व्यसनों में न लगें और हमारी शुभ भावनायें रहें। पात्रता हमारी रहे इसके लिए साधन हैं। उन बाह्य क्रियावों को करते हुए भी भीतर में क्या दृष्टि रखना है कि मैं अविकार ज्ञानस्वरूप की आराधना करूं और जिससे हमारी राग गीलाई, कषायें ये सूख जायेंगी और कर्मधूल अपने आप झड़ जायगी। देखो कल्याण चाहिए तो अपनी जो चरणानुयोग की प्रक्रिया बतायी, यथाशक्ति

उसमें लगें। यद्यपि वे बाह्य क्रियायें हैं फिर भी यथाशक्ति उन्हें करें। कोई इन चरणानुयोग की प्रक्रियावों से दूर रहकर पापकार्यों में लगता है तो उससे तो भला ही है। जो व्रत, तप, संयम आदि की परम्परा चली आयी उनमें यथाशक्ति लगें, उनसे ग्लानि न करें, उनमे रहते हुए रहें अपने आपमें और उनमें आसक्ति न रखें। एक अपने आपके सहज रूप से चलते रहें, भीतर में एक ज्ञानस्वरूप की आराधना बनावें। जैसे ढाल से रक्षा करे और तलवार से लड़ें तो उसकी विजय होना शक्य है ऐसे ही सभी प्रकार के मार्गों में गुजरकर शुद्ध तत्त्व की भावना बनावें तो आप सुरक्षित होकर शुद्ध तत्त्व की सिद्धि में सफल हो जायेंगे। तो करना क्या है भीतर ? अनविच्छिन्न धारा से एक शुद्ध आत्मा का उपयोग बनाना है। अविकार ज्ञानस्वरूप सहजभाव उसको निरखते रहो, भीतर में करने का काम बस यही एक है। जब करने चलता है कोई तो उसकी जो परिस्थिति है वह ही कहलायी व्रत तप आदिक, पर करने का काम, मुख्य लक्ष्यभूत बात तो एक सहज ज्ञानस्वभाव की आराधना है। निरखो अपने ज्ञानतत्त्व को और निरखकर प्रसन्न हो। अहा यह हूं मैं परमात्मतत्त्व। जिसकी दृष्टि करनेपर शुद्ध पर्याय प्रकट होगी। तो ऐसा मैं परमप्रतापी, सहज आनन्दस्वभावी अपने आपको सोचें, ज्ञानस्वरूप की आराधना बनावें और उस ही में अनुभव करें कि यह मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं। मैं यह हूं जो यह मैं सहज वास्तविक हूं, उसमें यह मैं हूं, ऐसा जो निर्णय है, प्रतीति है, अनुभूति है, बस यही संसार काटेगा और इसी के प्रताप से सदा के लिए हम शुद्ध आनन्द को अनुभवते रहेंगे।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन षोडश भाग समाप्त ॥

सप्तदश भाग

नाथ ! नाथ ! नाथ ! हे समवशरणस्थित जिनेन्द्र ! तुम्हारी ही अवस्था परमसारभूत है। मुझे कुछ नहीं चाहिये। यहां का समागम सब बेकार है। ये सभी कुछ न कुछ तो रहेंगे, कैसे रहेंगे, जैसे रहेंगे सो रहेंगे, कैसे ही रहो, सब बाह्य हैं। इनका सत्त्व इनका है, मेरे से क्या मतलब ? नाथ ! मुझे कुछ नहीं चाहिये। यह मैं ज्ञान-स्वरूप अपने आपमें रहूं, ज्ञान में ज्ञान रहे, निस्तरंग सहज ज्ञानस्वभाव में निस्तरंगरूप से रहे। यह मैं ज्ञान · यह सर्वस्व···यह चित्प्रकाश ·· परमब्रह्म···जयवंत होओ, ॐ··· ॐ··· ॐ ॐ . तत् सत् शुद्धं चिदस्मि।

ज्ञानी भक्त के कारणसमयसार व कार्यसमयसार की आराधना—अपनी अपनी ओर दृष्टि दो और अन्तर में निहारो। यह मैं अविकार स्वरूप हूं। कोई भी पदार्थ परिणति से रहित नहीं होता। उसमें अपनी परिणति निरन्तर चलती है। तो मुझमें परिणति क्या चलती है ? बस उपयोग का काम है जानना, देखना, यह निरन्तर चलता है, इसके अतिरिक्त और हम कुछ करते भी नहीं। जब कर्मविपाक का प्रतिफलन होता है उस समय यह उपयोग में विकार का ग्रहण करं उस प्रकार जानता रहता है। सुख भी एक जानने की पद्धति में है, दुःख भी एक जानने की पद्धति में है। हम अपने को कंसा जानें कि सुख हो, दुःख हो, आनन्द हो ? जानते सदा हम अपने को ही हैं। हां परवस्तु विषय है, पर जानना आत्मप्रदेश से बाहर नहीं होता। जब हम अपने में इस प्रकार विकल्प रूप से जानते हैं कि यह वस्तु इष्ट है, मुझको प्राप्त है तब यह जीव सुख मानता है। जब जानता है कि यह अनिष्ट है और सामने आया है उस समय यह क्लेश रूप प्राप्त होता है, और जब इष्ट अनिष्ट बुद्धि नहीं रहती, किसी बाह्य में कल्पना नहीं जगती, केवलज्ञान का स्वच्छ वृत्ति रूप परिणाम चलता है वहां आनन्द होता है। तो हम उपयोगस्वरूप हैं। जानने देखने का ही काम करना है तो हम कष्ट से बचें, आनन्द में आयें, इसके लिए यह यत्न करना होगा कि हम अपने को किस तरह जानें, देखें कि आनन्द हो जाय। अच्छा कितना निश्चय करने के बाद अब जरा अन्दर में देखो। क्या देखना है आनन्दलाभ के लिए ? सन्मार्ग से च्युत न होने के लिए अन्तर में देखो कारणसमयसार, बाहर में देखो कार्यसमयसार, इसी को ही कह लीजिए आत्ममनन और प्रभुभक्ति। कोई पुरुष अपनी एक असमर्थ दशा में यह ठान कर रहे कि मुझे तो आत्ममग्नता ही चाहिए, प्रभुभक्ति तो बाहरी चीज है, आश्रय है ऐसा पहले से भाव रखे तो जीवन शुष्क रहता है, हम प्रेरणा नहीं पा सकते, उमंग नहीं जग सकती। तो प्रभुभक्ति भी हम आपके लिए एक आवश्यक है, और कोई प्रभु जो बाह्य पदार्थ हैं उनकी भक्ति ही करता रहे, आत्मा में कुछ नहीं समझे तो भी काम नहीं चलेगा। उसे आवश्यक है कि वह आत्ममनन करे। तो यह देखो हमारे लिए आज की साधना के अंग हैं-—आत्ममनन और प्रभुभक्ति। क्या देखना ? अन्तर में कारणसमयसार और बाहर में कार्यसमयसार।

कारणसमयसार व कार्यसमयसार का विश्लेषण—कार्यसमयसार तो एक है, स्पष्ट है जो परमात्मा हो गये, वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं वह है कार्यसमयसार और कारणसमयसार दो प्रकार के हैं (१) ओघ कारणसमयसार और (२) समुचित कारणसमयसार। समुचित कारणसमयसार तो १२वें गुणस्थान में होता याने जिस पर्याय के बाद वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा होते हैं उस पर्याय को बोलते हैं समुचित कारणसमयसार। पर्यायरू। कारणसमयसार और पूर्वकारण समयसार जीव में जो सहज स्वभाव है अपने अस्तित्व के ही कारण परद्रव्य की अपेक्षा बिना सबसे विविक्त ही रहता है जो निजमें सहज चैतन्यज्योति है अनादि अनन्त शाश्वत वह है ओघ कारणसमयसार। तो अब समझें कार्यसमयसार। जैसे पर्यायरूप है ऐसे ही समुचित कारणसमयसार भी पर्यायरूप है। फिर भी हैं दोनों वीतराग। १२वें गुणस्थान का जो कारणसमयसार परिणमन है अर्थात् कार्यसमयसार होने से पहले जो उपादान है वह भी वीतराग है, सर्वज्ञ नहीं। कार्यसमयसार वीतराग भी है, सर्वज्ञ भी है। इसका ध्यान करने से अपने आपमें स्वभाव दृष्टि

पुष्ट होती है और उमग ज्ञानी की ऐसी ही होती है। जब तक राग है तब तक ज्ञानीके राग का प्रयोग शुद्ध आत्मावों के ध्यान में होता है।

कार्यसमयसार की भक्ति का लाभ—कार्यसमयसार की केवल रागराग से भक्ति नहीं बनती अथवा केवल वैराग्य में भक्ति नहीं बनती। केवल राग हो तो विषयों में लगे, केवल वैराग्य हो तो आत्मध्यान बनेगा, शुक्ल ध्यान बनेगा। तो प्रभुभक्ति में राग कम है, वैराग्य विशेष है तब यह प्रभुभक्ति बनती है। सम्यग्दृष्टि जीवकी प्रत्येक स्थिति में अविरत सम्यग्दृष्टि, देश संयत, प्रमत्त संयत जब तक रागभाव है तब तक सम्यग्दृष्टि जीव की प्रत्येक प्रवृत्ति में, प्रत्येक पर्याय होने पर आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा ये चारों निरन्तर चलते हैं। चाहे वह दुकानपर हो, चाहे विषय प्रसंग में हो, वहां पर भी वे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा चारों ही चलते रहते हैं, क्योंकि उसके राग और वैराग्य दोनों ही साथ हैं ना। वहां आस्रव बंध विशेष है, संवर निर्जरा कम है। पर प्रभुभक्ति के समय भी चल तो रहे चारों, पर वैराग्य का अंश अधिक है और उसमें अविकार ज्ञानस्वरूप के दर्शन का ही चाव है, तो अपने आप समझ सकते हैं कि उन विषयों प्रसंगों की परिस्थिति से तो उतम स्थिति है भक्ति। वहां सम्वर निर्जरा विशेष है, अपेक्षा अन्य प्रवृत्तियों के आस्रव बंध कम है और सीधा अनुभव बतायेगा कि कार्यसमयसार अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ आत्मतत्त्व उसका ध्यान जब होता है तो वीतरागता के लिए अविकार ज्ञानस्वरूप की उपलब्धि के लिए उमंग जगती है। एक जब कभी आप ऐसा ध्यान बनायें कि समवशरण है, उसमें जिनेन्द्रदेव विराजमान हैं। चारों ओर मुख दिखता है, समवशरण रचा है, यह तो एक दृश्य देखा, पर ऐसे दृश्य में जहां उस वीतराग स्वरूपपर दृष्टि जाती है, शरीरपर नहीं, जो शरीर है वह प्रभु नहीं, जो प्रभु है वह शरीर नहीं। जो दिखता है वह भगवान नहीं जो भगवान है वह दिखता नहीं, ऐसा ही हर बात में समझो। जिसका नाम दिया है वह भगवान नहीं। जो भगवान है उसका नाम नहीं लिया। व्यवहार तो इसी तरह तीर्थप्रवृत्ति को साधता है। हम नाम से प्रभु का स्मरण करते हैं, ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन आदिक तीर्थंकर, अन्य अन्य निर्वाण प्राप्त मुनीश्वर, पर जिनका नाम है ऋषभ, अजित आदिक वे भगवान् नहीं, जो वहां भगवान है उसका नाम नहीं। अगर नाम है तो साधारण नाम है, जो समस्त वीतराग सर्वज्ञ-देवों का वाचक हो सके तो वहां दृष्टि दिया, ज्ञानी ने एक अन्तर में प्रकाश पाया, उस ज्ञानपुञ्जपर अधिकार पाया। देखो कैसा उस वीतरागता के ध्यान का माहात्म्य है कि स्वर्गों से देव चले आते, पशु पक्षी भी उस समवशरण की श्रेणियों पर चढ़ते चले जाते हैं, मनुष्य भी वहां पहुंचते हैं। अरे वहां किसको क्या स्वार्थ मिलता है? किसी का धन नहीं बढ़ रहा, किसी को लौकिक कोई वैभव नहीं बंट रहा। प्रत्येक जीव जो जा रहा है वहां वह एक स्वभाव के नाते से जा रहा है। कुछ वहां लेने देने नहीं जाते। ऐसा ही एक स्वरूप है।

ज्ञानी के परमात्मत्व की आकांक्षा—प्रभु को निरखकर विचार करो कि समवशरण में स्थित हे प्रभु जो तुम्हारी अवस्था है वही परमसारभूत है। अपने बारे में दो बातें तो उठती हैं ना? भीतर में मैं क्या हूं और मुझे क्या होना चाहिए? क्या होना चाहिए, इसका उत्तर तो पर्याय से है। क्या हूं—इसका उत्तर द्रव्यस्वरूप से है। मैं क्या हूं? एक सहज चैतन्य ज्योति इससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। इसमें होने वाला जो भाव है, पर्याय है वह भी हुई, मिटी। मैं मिटने वाला नहीं, मैं शाश्वत अन्त: प्रकाशमान सहज ज्ञानस्वभाव हूं। अच्छा हम पर गुजर क्या रहा है? इसकी तो अन्दर में दृष्टि ही नहीं है। जो आज गुजर रही वे सब बाहरी बातें हैं। जो आज गुजर रहा है वर्तमान पर्याय में वह इष्ट नहीं है। यह मैं नहीं चाहता। तो क्या चाहता? यह समस्त क्लेशों से रहित हो और स्वच्छ ज्ञान के विलास में रहे। इसी का नाम तो परमात्मा है। तो यही अवस्था सारभूत है यह मुझे चाहिए, इसके अतिरिक्त मुझे कुछ न चाहिए। बाहर में प्रश्न हो तो यह उत्तर हो और मौलिक उत्तर यह है कि मुझे यह भी कुछ न चाहिए। जैसा हूं वैसा मैं दृष्टि में रहूं और मुझे कुछ वाञ्छा नहीं।

मोक्षमार्ग में संसारशरीरभोगनिर्विण्णता की प्रथम आवश्यकता—जगत में बाह्य पदार्थों के बारे में तो इतनी बुद्धि रहनी ही चाहिए कि ये भी समागम बेकार हैं. इनसे मेरे को कुछ लाभ नहीं। इससे विविक्त रहकर, जुदा रहकर अपनी दृष्टि अपने आपमें मग्न करते रहने में सार है। कोई कहे कि ऐसे गुजारा कैसे चलेगा ? अरे जो गुजारे की फिक्र करता वह क्या प्रगति कर सकता ? जिसने संयम किया, तप किया, ध्यान किया, ज्ञान किया निर्वाण हुआ, तो वहां कोई टोटा रहा क्या ? वे तो पवित्र हो गए, सदा के लिए संकटों से छूट गए। तो जब एक अपने आपकी अनुभूति के लिए एक उद्यत बनें तो उस समय छोटे मोटे किसी भी विकल्प की वहां आवश्यकता नहीं है। ये बाहरी पदार्थ हैं, रहेंगे। इनका हम ख्याल करें तो रहेंगे, न ख्याल करें तो रहेंगे। जिस पदार्थ की सत्ता हुई है वह रहेगा ही। कहीं जायगा नहीं, मिटेगा नहीं। मिटे चाहे जाय, छिदे भिदे कहीं जाय तो भी मैं इन परद्रव्यों का ग्रहण न करूंगा। इनमें उपयोग न जोडूंगा, ये परद्रव्य हैं, जहां रहो, रहो, कुछ तो रहेंगे। कैसे रहेंगे ? जैसे रहेंगे रहें, कैसे ही रहें, सब बाह्य हैं।

व्यवहारधर्म व निश्चयधर्म की साधना के उपयोग—देखो दो प्रकारको बातें हैं—एक तो व्यवहार-धर्म के साधन की बात, दूसरी ज्ञानमग्न होने की बात। व्यवहारधर्म में लोकलिहाज, क्रियाकाण्ड, प्रवृत्तियां, ये सब मेरे लिए भली हैं, किन्तु ज्ञानमग्न होने के लिए उसे सारे विकल्पों का कटाव करना पड़ता है। तो जिसने जाना, जो है वह अपने स्वरूप से है। मैं हूं अपने स्वरूपचतुष्टय से, पर से नहीं। जो भी बाहर है वह अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से है, मुत से नहीं। तो इन सबका भी सत्त्व इनमें है। मेरा उनसे क्या मतलब ? मुझे कुछ न चाहिए। मेरे को मेरे सहज स्वरूप का अवलोकन और उस अवलोकन की उमंग बने, उसके लिए वीतराग सर्वज्ञ देवकी भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। यह ज्ञान ज्ञान में बसे। जैसे ज्ञान दुनिया के पदार्थों को जानता है ऐसे ही ज्ञान इसको न जानकर ज्ञान के खुद के स्वरूप को जानने लगे। आत्मा भी तो पदार्थ है। ज्ञान जिस अन्य पदार्थ को जानता तो बजाय उसके यह ज्ञान आत्मा को जाने। यही कहलाता है ज्ञान में ज्ञानस्वरूप का होना। वह सहज ज्ञान, वह स्वरूप निस्तरंग है। शक्ति की बात, स्वभाव की बात कही जा रही है। पर्याय में तो खुद अनुभव करें। देखो तरंग उठ ही रही है बुरी को अच्छी उठें, लेकिन यह तरंग मिटे कैसे ? यह पर्याय की दृष्टि दूर हो कैसे ? तो जो सहजसिद्ध अंतस्तत्त्व है उसकी दृष्टि ही हमारी अशुद्धियों को मिटा सकती है। अब उसकी दृष्टि हमारी निरन्तर बने, उसके लिए जब कोई एक प्रायोगिक कदम उठता है तो उसको अनेक अड़चन, विपत्ति, विडम्बनायें सामने आती हैं, वे बाहर से नहीं आते, किन्तु अपनी ही वासनाओं से आती हैं। तो उनके मुकाबले उनको दबाना, उनसे उपयोग हटाना यह तो एक आव-श्यक हो जाता है, बस इसीलिए बताया है समयसार में कि देखो 'न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्याध्यवसानमात्मानमुपलभते' बाह्य वस्तु का आश्रय किये बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नहीं बनाता बंध यद्यपि अध्यवसान से है बाह्य वस्तु से नहीं, लेकिन बाह्य वस्तु का प्रतिषेध, बाह्यवस्तु का परिहार अध्यवसान के निषेध के लिए है। किमर्थ बाह्यवस्तु प्रतिषेध: ? अध्यवसान प्रतिषेधार्थ:। खूब बताया, वह एक चरणानुयोग का संकेत है। जो बाह्य पापों का, विषयों का त्याग किया जाता वह एक पात्रता बनाये रखने के लिए है कि हम अपने इस अनूठे सहज समयसार को देखने के पात्र रहें। उपयोग कुसंग में भटक गया, व्यसनों में चला गया। तो जैसा मैंने किया वैसा तांता बन सकता है। तो हम अपात्र बन जायेंगे इसलिए शुभोपयोग की प्रवृत्तियां आचार्य संतों ने बतायी है। यह कला अशुभोपयोग में नहीं मिलती। सो अपनी दृष्टि अपना लक्ष्य जो बनाया है, जो सहज स्वरूप का निरख किया है उसको देखने की अपनी योग्यता बढ़ावें तब यह जीव निस्तरंग सहज ज्ञानस्वभाव में रहता है। रहेगा किस विधि से ? निस्तरंग विधि से, ऊधम मचाता हुआ, विकल्प मचाता हुआ, इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता हुआ यह उपयोग निस्तरंग ज्ञानस्वभाव को नहीं लख सकता। तो इस पद्धति से अपने ज्ञानस्वभाव में रहें, वहां जब यह अनुभव करता—ओह यह मैं ज्ञान, यह मैं

स्वरूप कैसे बनता ध्यान ? धीरता से यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप को विषय करता है और गुप्त ही रीति से, धीरता और गम्भीरता से अपने आपमें अन्तः प्रवेश तकता है । उस समय जब केवल ज्ञानप्रकाश ही ज्ञान में रहता है तब अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है । उस प्रसन्नता में विकल्प है नहीं । तब तो इसकी भी सुध नहीं कि मैं क्या कर रहा हूं, किसको कर रहा हूं, यह भी सुध नहीं करता । ज्ञानरुचिक होकर इस अन्तस्तत्त्व का अनुभव करें ।

आत्मविजय का उद्यम—जब इस अनुभव से कुछ हटता है, ऐसी स्थिति है, नहीं बढ़ रहा है, तब इसका स्मरण इसकी याद रखाता है अलौकिक आनन्द की । मेरा सर्वस्व, मेरा शरण, मेरा परमपिता, सहज परमात्म-तत्त्व मेरे ज्ञान में था, यह उपयोग मेरी गोद में था । यह उसे तब स्मरण होता है और उसे आभार प्रकट करता है, जयवन्त हो वह चित्प्रकाश अर्थात् उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त हो । इसी को ॐ ॐ इस ध्वनि में अंगीकार करें । यह ही सत्य है, यह ही शिव है, यही शंकर है । यह हूं मैं शुद्ध चैतन्य । ऐसा यों सहज कारणसमयसार खूब उपयोग में लेना है, यह अन्तर का काम है और इसकी पूर्ति के प्रयोग में अपना व्यवहार ऐसा योग्य रखना है कि जिसमें हमको यह पात्रता रहे । अहंकार न करना । सबसे बड़ा बाधक अहंकार है । इसके कारण विनयभाव नहीं रहता, चित्त में नम्रता नहीं रहती तो पात्रता समाप्त हो जाती है । आत्महितार्थी को गुणों में प्रीति हो । सब जीवों के प्रति विनयभाव में जब बाहर आते हैं व्यवहार में तो ऐसा ही सद्व्यवहार बनता है ? यह किसलिए किया जाता ? एक अपने स्वार्थ के लिए । उसकी पात्रता बनी रहे और उस सहज स्वभाव का बारम्बार दर्शन करते रहें, यही एक प्रयोजन है व्यवहार धर्म के पालन करते रहने का । सो अपना व्यवहारधर्म तो एक ढाल की तरह उपयोगी है कि हम वहां सुरक्षित बने रहते हैं और अन्तर में इस सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि का ही काम करें तो इस तरह हम अपने आपपर विजय पा सकते हैं और सर्व संकटों से मुक्त होने का क्षण हम निकटकाल में पा सकते हैं । तो हमको चाहिए कारणसमयसार और कार्यसमयसार की भक्ति । जो हमारी आज स्थिति है उस स्थिति में हम यदि प्रभुभक्ति करें, सेवा, स्वाध्याय, संयम, त्याग इसे छोड़ दें तो हम ऐसे स्वच्छन्द हो जायेंगे कि हम इस सहज ज्ञानस्वभाव की आराधना के पात्र न रहेंगे और यदि ज्ञान से उपेक्षा करेंगे, केवल एक क्रियावों पर ही हम दृष्टि रखेंगे तो हमने मोक्ष-मार्ग कहां पाया ? इसलिए जो बने अन्तर में बाहर में उन सबको ऐसे प्रयोग से चलायें कि हम अपने स्वरूप की, ज्ञान की उपलब्धि पा सकें ।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन सप्तदश भाग समाप्त ॥

अष्टादश भाग

प्रियतम ! संसारभ्रमण करते हुए अनंत काल बीत गया, क्या-क्या भव नहीं पाये, क्या क्या सुख दुःख नहीं भोगे, फिर भी ऊबा नहीं। प्रियतम ! इस दुर्लभ मानवजीवन में तू आया तो बता—किस लिये तू जिन्दा है ? इन्द्रियविषयोपभोग अनर्थ हैं, कीर्ति नामवरी बढ़ाने का संकल्प महा अनर्थ है। जितना तू यहां सोच सकता है उससे भी कई गुणा विषय साधन, कीर्ति, नामवरी, अनेक परिग्रह पूर्वकाल में पाया, उससे भी तृष्णा शान्त न हुई तो अब इसी मूढ़ता में तू पायगा क्या, बरबादी ही करता जायगा। अब आत्मक्रान्ति में कदम बढ़ा, समस्त अनात्मपदार्थ से अत्यन्त विमुख हो जा, अपने में देख अपना तेजो धाम ·· समतासुधारसपूरित अलौकिक चैतन्यप्रकाश··· यह सहजानन्द-धाम·· ॐ ॐ···ॐ शुद्धं चिदस्मि।

निज अन्तर्नाथ का शरण ग्रहण करने में सुरक्षा—अपना शरण कौन, नाथ कौन, जिससे कुछ अपनी फरियाद की जाय और कुछ अपने को शान्ति का लाभ हो। लोक में अपना नाथ अपना शरण कोई दूसरा नहीं है। अपना खुद ही अपना नाथ है। अपनी सारी सृष्टियों का जो श्रोत है, जो एक सहज भाव है वह नाथ है, क्योंकि मेरी सृष्टियों का मूल कारण वही है जिस पर सृष्टियां चलती हैं, मेरे में अन्तःप्रकाशमान शाश्वत चैतन्यस्वरूप यह है मेरा नाथ। इस नाथ की ओर दृष्टि हो तो अपनी अशुद्ध सृष्टियां समाप्त हो जायें। निज नाथ से जरा अपनी फरियाद करें अब। हे निज नाथ ! संसार में भ्रमण करते हुए अनन्त काल बींत गया। किसका अनन्त काल बीता ? यहां दो बातें कही जा रही हैं उपयोग और निजनाथ। उपयोग तो है एक पर्यायस्वरूप को लेने वाला और यहां निज नाथ तका जा रहा है अनादि अनन्त अन्तःप्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप। सो यह एक दृष्टि की कला है। कहीं पर्याय उपयोग इस निजनाथ से भिन्न नहीं चला गया और उपयोग निजनाथ को छोड़कर कोई अलग अपना अस्तित्व नहीं रख रहा, पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की विवक्षा में यहां दो तत्त्व निरखे गए हैं। किसका अनन्त काल व्यतीत हो गया ? दोनों का हो गया। भ्रमण और चलन की दृष्टि से उपयोग का और उसका श्रोत यह निजनाथ है सो इसका। हे निजनाथ ! संसार में भ्रमण करते हुए अनन्त काल व्यतीत हो गया। क्या क्या भव नहीं पाये ? संसार में कितनी प्रकार की योनियां हैं ? जन्म है, देह है, क्या-क्या नहीं पाये ? यद्यपि यह सम्भव है कि कोई निगोद से निकल कर ही मनुष्य हुआ हो, अन्य भव नहीं पाये, पर यह एक बिरली पद्धति में है। तो एक साधारण पद्धति में तो सभी भव कहे जायेंगे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, देव, नारकी, पशु, मनुष्य आदि सभी प्रकार के भव पाये ? न जाने क्या क्या सुख दुःख नहीं भोगे ? सभी तरह के सुख दुःख भोग लिया फिर भी ऊबा नहीं। जैसे कभी किसी बड़े आदमी से भी कोई अपने नुक्सान की बात को यों कह देता है कि आपका यह नुक्सान है। अपने नुक्सान को बड़ें का नुक्सान बता दिया। हो रहा है किसी कहने वाले का ही नुक्सान, पर कहता यों है कि मालिक यह आपका नुक्सान हो जायगा। तो सुख दुःख भोगे इस उपयोग परिणमन ने, मगर वह परिणमन चैतन्य-स्वरूप से अलग प्रदेश तो नहीं रखता इसलिए फरियाद में उसे ही कहा जा रहा। क्या क्या सुख दुःख नहीं भोगा ? मानो अपने प्रभुपर करुणा करके कह रहे हो—क्या अब तक ऊबे नही ? अब तो मुझे अपनी शरण दो सब भला ही भला होगा। एक स्तवन में एकीभाव स्तोत्र होगा, शायद कहा है कि हे नाथ, हे भगवान ! आपको हमने अपने चित्त-शैया पर बिठा दिया है, अब अगर यह चित्तशैया गर्म हो जाय, संतप्त हो जाय, संसार के दुःखों से यह संतप्त हो जाय तो नाथ अब क्यों दुःख भोगते हो ? शैया पर जो पड़ा होगा सो तो दुःख पायगा। तो भक्ति में एक अनन्यता की पद्धति होती है। वहां तो दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में बात चल रही। यहां एक द्रव्य की ही बात कही जा रही।

सकल क्लेशमूल कषायभावों से हटकर ज्ञानमग्नता पाने की भावना—जो अपना उपयोग है वह

अपने निज नाथ से फरियाद कर रहा है। इतने दुःख पाये फिर भी तू ऊबा नहीं। हे प्रियतम ! समस्त प्रियों में श्रेष्ठ है, इस दुर्लभ मानवजीवन में तू आया, तो यह तो बतला—किस प्रयोजन के लिए आया, किसलिए जिन्दा है ? इन्द्रिय, विषयों के उपभोग—ये तो अनर्थ की चीज हैं। यशकीर्ति की प्रतिष्ठा आकांक्षा यह भी अनर्थ की चीज है। एक दूसरे से कषाव रखना, दूसरे के दोष निरखना, अपने पर सारे कुटुम्ब की, धर्म की, समाज की जिम्मेदारी का अहंकार रखना, क्या इन सब बातों से यह जीवन सफल हो जायगा ? यदि अपने आपका हित करना है तो प्रमुखता दो इस बात की कि मैं अपने को जानूं और सर्व प्रयत्नों पूर्वक अपने में रमने की चेष्टा रखूँ। इसके अतिरिक्त और मुझे कुछ चाहिए नहीं, आवश्यक नहीं।

अनर्थ व्यर्थ विकल्पों से हटकर सहजस्वभाव का शरण गहने का संदेश—जिन कामों में मोहीजन अपना जीवन बिताते हैं वह काम जैसे यश कीर्ति का सम्पादन, विषयों का उपभोग, दूसरों से ईर्ष्या, अनेक प्रकार की कषायें, जिन-जिन बातों से जीवन गंवा रहे हैं उनसे भी कई गुनी अधिक बातें अनेक भवों में पायीं। यदि वैभव की आकांक्षा है और उस वैभव को भोगने में ही कुछ मौज मानते हैं तो जो तूने पाया उससे कई गुना वैभव भी अनेक भवों में पाया तो इसमें क्या चित्त देना है अपनी पर्यायपर दृष्टि रखकर, यह ही मैं हूं, इससे मैं बड़ा हूं, इसपर दृष्टि रखना, यह तो मानवजीवन को सफल करने वाली बात नहीं है। जब अनादिकाल से अनेक भवों में अनेक वैभव पाये और उसमें तृष्णा शान्त न हुई तो यहां कैसे तृष्णा शान्त हो सकती ? तृष्णा शान्त करने की वह रीति ही नहीं है। तृष्णा शान्त होने की रीति है तृष्णारहित, विकाररहित अपनी शक्ति को निरखे, स्वभाव को देखें और स्वभावमात्र अपनी प्रतीति करें। मैं वह हूं जो सदा रहता हूं, जो सदा रहता है वह स्वभाव है। पर्यायरूप अपने आपकी प्रतीति न करें। यद्यपि पर्याय से कभी मैं छूटूंगा नहीं, कोई न कोई पर्याय आती ही रहेगी आने दो, द्रव्य का स्वरूप हैं, परिणमन होते ही रहेंगे किन्तु अपना परिणमन कैसा करना कि जिसमें परिणमन न दिखे और एक अन्तःस्वभाव ही नजर में आये, इस तरह की परिणति बनाना है। तो ऐसा जो अपने अन्तरनाथ की सुध लेता है उसका मनुष्यजीवन सफल है, और जो पर्याय, परभाव इनमें दृष्टि रखकर अपनी तृष्णा बढ़ाता है, तृष्णा को शान्त नहीं रखता तो वह अविवेकी है, और इस मूढ़ता में, अविवेक में तू पायगा क्या ?

देखो वास्तव में किसी को यदि आत्महित की आकांक्षा हुई है तो उसका उपयोग उसकी पद्धति यों बनेगी कि उसके द्वारा किसी का अहित न होगा, किसी को कष्ट न होगा, किसी को उद्वेग का वातावरण न बनेगा। वह तो अपने आपके हितमार्ग में लगेगा, क्योंकि अन्य बातें तो भव-भव में कीं। उनसे लाभ क्या मिला ? लाभ तो अपना केवल आत्महित की वृत्ति में है, और ऐसा न कर सके, विषयों में, कषायों में, विभावों में इनमें उपयोग दे तो तू अपनी बरबादी ही करेगा। अब तक दीन रहा, भिखारी रहा, कायर रहा, मलिन रहा, विषयकषायों में लीन रहा, अब तो आत्मक्रान्ति का उदय कर। बाहर-बाहर दृष्टि देकर अनेक विकल्प बनाये और उस तरह अपना जीवन गुजारा। अब तो अपना पासा पलटा, पराभिमुख मत हो, अपने अन्तर अभिमुख हो और जो आत्मा का सहज स्वरूप है उसको ग्रहण कर। व्यर्थ का बखेड़ा न कर।

भूतार्थ की शरण्यता—दृष्टि देना कहां ? भूतार्थ तत्त्व की ओर। भूतार्थ कहते किसे हैं ? धातु का अर्थ सत्ता अर्थ में है। जो स्वयं सहज परनिरपेक्ष होकर अपने अस्तित्त्व की वजह से जो भाव है उसे कहते हैं भूतार्थ, और अभूतार्थ किसे कहते ? जो अपने में सहज भाव नहीं है उसे कहते हैं अभूतार्थ। अभूत अर्थ, अभूतार्थ के मायने असत्य नहीं, किन्तु यह अर्थ है कि यह पर्याय या यह जो अभूतार्थ का विषयभूत है यह स्वयं सहज निरपेक्षतया नहीं होता। जो अभेद नहीं, निरपेक्ष नहीं, सहज नहीं और है, उसे कहते हैं अभूतार्थ। जैसे आत्मा में गुणों की दृष्टि करना—ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण यह कहलाया अभूतार्थ। इसके मायने यह नहीं कि यह है नहीं। आचार्य

संतों ने परिज्ञान कराने के लिए शक्तिभेद से इस आत्मसत्ता का वर्णन किया है असत्य है तो आचार्यों की सब वाणी असत्य हुई। प्रतिपादन तो गुणभेद से किया है, और पर्याय तो कभी असत्य होती ही नहीं। पर्याय बिना द्रव्य है नहीं। पर्याय होती रहती, मगर पर्याय अभूतार्थ है। स्वयं सहज निरपेक्ष शाश्वत नहीं है, ऐसा भूतार्थ नहीं है उसका अर्थ यह नहीं कि मिथ्या है। आचार्य संतों ने स्वयं बताया है। 'अभूतार्थ नयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवाश्रवबंधसंवर-मोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय अभूतार्थनय से व्यपदेश दिए गए जो ९ तत्त्व हैं, ९ तत्त्वों का परिचय कौन कराता ? अभूतार्थनय, ७ तत्त्वों का समग्र वर्णन और बल्कि भूतार्थ का भी प्रतिपादन कौन करता ? अभूतार्थनय। तो अभूतार्थ से अपना उपयोग पायें और भूतार्थ में आये और भूतार्थनय का भी विकल्प तजकर ज्ञानानुभूति में आवो। यह एक पद्धति में है। तो इस जीव ने अब तक बाह्य-बाह्यपर ही तो दृष्टि की है। वहां संग्रह विग्रह सुधार, सब तरह का मिथ्या निर्णय किया है। अब वहां से विमुख हों और आत्मा में अभिमुख हों, आत्मक्रान्ति में कदम बढ़ायें। समस्त अनात्म पदार्थों से विमुख हो जायें, अपने आपमें अंतस्तत्त्व का अभ्यास बनाना, प्रयोग करना। जो करने का काम है सो ही करना है और बाह्य पदार्थों में उपयोग जाता है उसका विषाद मानना, उसमें रमना नहीं, हर्ष मत मानें।

आत्महित की भावना—पूजा के अन्त में जो ७ भावनायें कही गई हैं वे आत्मकल्याण के लिए कितना उपयोगी हैं ? शास्त्र का अभ्यास करें, जिनेन्द्रदेव की भक्ति करें, सदा सज्जनों की संगति बनावें और जो सच्चरित्र हैं, पापों से अलग हटे रहते हैं उनका गुणगान करें और दूसरों के दोष कहने में मौन रखें। सब जीवों को प्रिय हित वचन बोलें। आत्महित में भावना बनायें। ये ७ बातें जब तक मुक्ति न मिले भव भव में होती रहें, तो जरा उसपर अपना अमल बनावें, कल्याण होगा और एक अपने आत्महित की तो दृष्टिकी नहीं, आलोचना, समालोचना, निन्दा, दोष, कलह और दूसरे कुछ करते हैं उसे भी वे अज्ञान में करते हैं, ऐसी दृष्टि बनाते, भला इस विकल्प को न करें तो अटकी क्या है हमारी ? हमको आत्महित करना है तो अपना मार्ग बनावें ना। अपने आपमें जैसे प्रवेश हो उस प्रकार से अपने उपयोग को चलावें। ऐसा किए बिना इस जीव ने अब तक संसार में परिभ्रमण ही किया, और न करेंगे एक आत्मा के प्रयोजन का काम तो संसारभ्रमण ही चलता रहेगा। तू समस्त पर और परभावों से चित्त हटा और अपने में देख यह है अपना तेजोधाम। महस्वी किसे कहते हैं ? जहां ऐसा महान महस्तेज प्रकट हो उसका नाम है महस्वी। महस्वी की प्रवृत्ति—जो मन में सो वचन में, जो वचन में सो काय में। दुरात्मा की प्रवृत्ति मन में और, वचन में और, करते कुछ और। अरे मन में बात रखो अपने आत्मस्वरूप के अनुरूप और वचन से बोलो अपने आत्मस्वरूप के अनुरूप और शरीर की चेष्टायें करो अपने आत्मस्वरूप के अनुकूल। प्रतिकूल चेष्टा न बने, चित्त न जाये पापों में, व्यसनों में, कषायों में। देखो कुछ भी व्रत, तप, संयम, नियम से अपने को नियंत्रित रखो। जीवन में स्वच्छन्द वृत्ति से शुद्ध तत्त्व की दृष्टि के अपात्र न बनो और इतना व्यवहार धर्म से अपने को नियंत्रित रखकर अपने को कषाय व्यसनों के आक्रमण से दूर रहा करो। अपने आपमें विशुद्ध विविक्त चैतन्यस्वरूप की उपासना करो। मूल बात तो एक ही है। जो जीव अपने को यों प्रतीति में लेता रहेगा कि मैं तो अनादि अनन्त ज्ञान ज्योति स्वभावमात्र हूं, सही विचार से जिसको यह स्पष्ट हो जाय कि मेरा इस चैतन्यस्वरूप से बाहर कहीं कुछ नहीं। यदि ऐसा यह अपने आप अपने आपको समझ ले तो उसका हित अवश्य होगा। मूल बात इतनी है। अब यह बात समझने के लिए नयवाद का आश्रय लें। वस्तु को प्रमाण से सब प्रकार समझ लें और उसमें फिर अलग-अलग नयों से अपने आपके स्वभाव का दर्शन करें। काम अपना अपने में करना।

आत्महित की निर्विघ्न साधना में समतावृत्ति का आनोखा सहयोग—देखो एक समता का भाव रखना चाहिए। यह धर्म का मार्ग है। अगर शिखर जी की यात्रा में पहाड़पर हजारों आदमी चढ़ रहे हों तो कोई

पहुँच गया टोंकपर, कोई पहुंच गया बीच में गंधर्व नाले पर, कोई अभी नीचे ही पड़ा है। तो जो ऊपर पहुंच गया वह कहीं नीचे रहने वाले को गाली तो नहीं देता कि ये लोग पापी हैं, यहीं पड़े रह गए, वहीं से लौट गए या बैठ गए चलते नहीं। अरे बड़ा व्यापक है काम। कोई यहां चढ़ रहा, कोई वहां चढ़ रहा। धर्म मार्ग में कोई अष्टमूल गुण जघन्य दर्जे के पाल रहा, कोई मध्यम दर्जे का, कोई उत्कृष्ट मूलगुण पाल रहा, किसी को ज्ञान में कुछ अधिक वृद्धि है, कोई ज्ञान में बहुत बढ़ गया। किसी को चारित्र में प्रगति नहीं है, किसी की कुछ विशेष प्रगति है। यों अनेक प्रकार के ये धर्ममार्ग में लगे हुए लोग, वे सब ठीक हैं और अपनी स्थिति के मुताबिक। अब उपदेश तो सबका एक है। चाहे कोई किसी जगह हो, उपदेश अंतरंग का सबके लिए एक है कि अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान चैतन्यस्वरूप में अपने को मानना यह मैं हूं, चाहे वह अष्टमूल गुण का हो, चाहे वह व्रत वाला हो, चाहे वह मुनिव्रत वाला हो और चाहे ज्ञान में बढ़ गया, मगर संयम न पाल सका। सभी जीवों को आन्तरिक उपदेश तो एक ही है मगर जो ऐसे ज्ञान में मग्न न हो सके, किन्तु लक्ष्य है उसका कि मेरा आत्महित हो तो वह कहीं गाली या निन्दा का पात्र नहीं है। समता से देखें, ये भी चल रहे ठीक है। साधर्मीजनों से वात्सल्य रहेगा तो आत्महित की करनी में निर्विघ्नता रहेगी। धर्ममार्ग में जितने भी लोग चलते हैं सर्व के प्रति वात्सल्य का भाव हो तो अपने आपका कवच बन गया। जब मैं किसी के द्वेष में नहीं, निन्दा में नहीं, किसी की ईर्ष्या में नहीं तो मैं तो एक सुरक्षित बन गया। अब अपने आपके अन्दर में ज्ञानज्योति की उपासना करके अपने को बढ़ाना चाहिए।

अन्तर्नाथ का शरण ग्रहण—अपनी सृष्टि का मूल शरण नाथ तो यही मैं अंतस्तत्त्व हूं। उसको निरखें। उस तेजोधाम का अनुभव करें। जो समता सुधारस से पूरित है, समता, राग और द्वेष किसी भी परिस्थिति में कुछ भी आये यह तो जीव का अनर्थ ही करने वाला है इससे जीव को लाभ नहीं। कोई परिस्थिति आये, किसी भी समय क्रोध न करें। क्रोध न करें, शान्ति से अगर बात कही जाय तो बुद्धि स्वच्छ रहती है और उसका फल भी अच्छा होता है। चाहे अपने पर उपसर्ग हो, उपद्रव भी आये तो भी प्रभु मेरे में क्रोधभाव कभी मत जगे, ऐसी भावना और ऐसा अपना प्रयास रखना चाहिए। चाहे लोग मेरी बात सुनें, मानें, मुझ में अनुराग रखें, भक्ति करें, प्रशंसा करें तो भी प्रभु मेरे में मानकषाय मत जगे, क्योंकि कषाय का अंश भी बुरा है। चाहे हम किसी परिस्थिति में हों और कुछ भी आवश्यकता महसूस कर रहे हों तो भी परिणाम मेरा मायाचार में मत जाय। जो दूसरे को ठगता है, दूसरे से छल कपट रखता है वह स्वयं को ही ठगता है। इसी तरह किसी भी परिस्थिति में मेरे को तृष्णा न जगे। बाह्यपदार्थ हैं, हों तो ठीक, न हों तो ठीक, कुछ भी स्थिति हो। भले ही परिस्थितिवश कुछ बात आये मगर तृष्णा आसक्ति का भाव न जगे। कषायों से दूर रहकर अपने में विराजमान अलौकिक चैतन्यप्रकाश प्रतीति में रखें कि यह मैं हूं। यह हूं मैं सहज आनन्द का धाम, उसे अपनायें, उसमें प्रसन्न हों, उसे अंगीकार करें। ॐ ॐ, यह ही मैं हूं शुद्ध चैतन्यस्वरूप। यह ही हूं मैं निजनाथ। नाथ का अर्थ जो शरण्य हो। नाथ का अर्थ जो समृद्धिशाली हो, नाथ का अर्थ जो रक्षा करें, पोषण करे, नाथ का अर्थ—न अर्थ, याने जिसकी कोई आदि नहीं, जो नित्य है वह है मेरा एक सहज चैतन्यज्योति। ज्ञान में एक ज्योति का स्वरूप, चेतना का स्वरूप लावें। मात्र जानन जानन। जहां तरंग न हो वही जानन है। ऐसे जाननस्वरूप को ज्ञान में लेकर जब उसमें एक रस होते हैं तब वहां ज्ञानानुभूति प्रकट होती है और यही परिणति मेरी रक्षा करने वाली है। जो निजनाथ का आश्रय लेने वाली परिणति है वही वास्तव में मेरी रक्षा करने वाली है। सो पर और परभावों से हटकर अपने आपके सहज स्वरूप में 'यह मैं हूं' ऐसा अनुभव करके ठहर जावो।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन अष्टादश भाग समाप्त ॥

एकोनविंश भाग

नाथ ! नाथ ! नाथ ! हे अन्तर्नाथ ! दया नहीं करोगे क्या, तुम्हारे वश की ही तो बात है। अहो, मिथ्या विकल्प, लेन नहीं, देन नहीं, मतलब नहीं, सम्बन्ध नहीं किसी भी परवस्तु से, फिर यह हो क्यों जाता है, ऐसा गड़बड़ ? उपयोग में तो ऐसी करतूत है नहीं, यह तो सर्व कर्मविपाक की मलीमसता है, वह प्रतिफलित हुआ चेतन में, इस संसर्ग से उपयोग का रूप मलीन हुआ, विकल्प की मुद्रा बनी। नाथ ! तू तो चिन्मात्र मेरी दृष्टि में आ गया, अब बिगाड़ न होगा, रहेगा यही प्रकाश, चित् ॐ ॐ·· ॐ शुद्धं चिदस्मि।

अन्तर्नाथ का दर्शन ही अन्तर्नाथ को महती कृपा—लोक में किसी बड़े के प्रति कहा जाता है कि आपने दर्शन दिया, बड़ी कृपा की। क्या कोई दर्शन दे, इसमें बड़ी कृपा हो जाती है ? यह बात भली भांति समझनी हो तो जरा अपने अन्तर में दृष्टि देकर परख कर लो कि मुझमें शाश्वत अन्त:प्रकाशमान सहज ज्ञानस्वभाव का दर्शन हो तो बड़ी कृपा बनती है या नहीं ? अपने सहज ज्ञानस्वभाव की अनुभूति के साथ देखो सम्यक्त्व हुआ और उस ही दर्शन की दृढ़ता के साथ चारित्र की वृद्धि हुई। तो कृपा हुई कि नहीं। तो यह निजनाथ एक बार दर्शन देकर फिर ओझल हो जाय तो यह ज्ञानी उस ही अंत:प्रभु से दया की भीख मांगते हैं। पुन: दया करो, अन्तर्नाथ ! अब दया न करोगे क्या ? आपकी दया से हमने बहुत शान्ति का अनुभव किया। वह दया क्या ? दर्शन. अपने ज्ञान में आना। देखो जैनसिद्धान्त की कितनी एक अनुपम देन है कि हम आप सब उसका विविध ज्ञान करते हैं और इस सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन कर लेते हैं। इसके लिए सबसे पहली बात यह है कि वस्तु के प्रमाण से भली भांति परिचय कर लें। प्रमाण से परिचय का अर्थ है कि वस्तु के सर्व धर्मों को, अनन्त धर्मों को सापेक्ष विधि से सभी बातों को भली भांति समझ लें और फिर किसी भी नय से उस सम्बंध में विचार करेंगे तो सभी नयों के परिचय से स्वभाव का दर्शन मिलेगा। अब उनमें यह बात अपनी अलग अलग है कि कौन किस नयकी मुख्यता से मनन करके स्वभाव का दर्शन पाता है, लेकिन अन्य नयका विरोध कर, किसी भी नयकी मुख्यता का एकान्त कर स्वभाव का दर्शन पाने में असमर्थ हो जाता है।

नयों की प्रक्रिया का प्रयोजन सहज स्वभाव का दर्शन—प्रमाण के दो अंश कहे गए हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय में परिचय के उपायों का ही वर्णन है। जीवतत्त्व का विधिपूर्वक वर्णन तो दूसरे अध्याय से है, मगर परिचय भी तो, उपाय भी तो जीव की चीज है, इसलिए प्रथम अध्याय से जीवतत्त्व के वर्णन की बात है। ऐसा कहा जाता है, किन्तु है परिचय के उपाय की बात। प्रमाण और नयों से वस्तु का सही परिचय होता है। यह बात कह दी—'प्रमाणनयैरधिगम:' इस सूत्र से तो अब प्रमाण का विस्तार और नयका विस्तार ही इससे आगे चलता है। तो प्रमाण में परोक्ष प्रत्यक्ष जितनी भी बातें हैं वे सब यथार्थ हैं। तो यों भी नैगम, संग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्रनय आदिक जितनी भी बातें हैं वे भी सत्य हैं। उनका उपयोग इस ढंग से करता है ज्ञानी कि स्वभाव का दर्शन मिले, क्योंकि ज्ञान का प्रयोजन इतना ही है, तो जब निश्चयनय से परखते हैं तो निश्चयनय में तीन बातें आती हैं—स्वभाव का निरखना, शुद्ध पर्याय का निरखना और अशुद्ध पर्याय का निरखना, लेकिन इसमें अभेद का नियंत्रण है इसलिए वह निश्चयनय कहलाता है। स्वभाव को जब निरखते हैं तो वहां अभेदवृत्ति है, उसका नाम है परम शुद्ध निश्चयनय। शुद्ध पर्याय को देखते हैं तो वहां अभेद षट्कारक का नियंत्रण है। यह पर्याय इस ही द्रव्य से प्रकट हुई, इस तरह का परिचय मिलता है। उसमें जब एक द्रव्य की ओर ही दृष्टि दी, अन्य द्रव्य की ओर नहीं, निमित्त उपाधि की ओर नहीं, तो उस अवसर में ऐसा अवकाश मिलता है कि शुद्ध निश्चय जो कि वस्तुत: व्यवहार है उससे भी हटकर परम शुद्ध निश्चयनय, जिसका दूसरा नाम है शुद्धनय, भूतार्थनय उसका स्पर्श होता है और स्व-

भाव का दर्शन पाता है। जब अशुद्ध निश्चयनय से परख रहा है, यह राग जीव की परिणति से हुआ जीव में हुआ, जीव के लिए हुआ, जीव से हुआ, अभेद षट्कारकता, देखो इसके मायने यह नहीं है कि निषेध किया जाय किसी निमित्त का कि निमित्त वहां नहीं, कुछ नही, और कोई तंग करे तो कह दे कि उपचार है तो ऐसी दृष्टि वहां न देना, क्योंकि अशुद्ध निश्चयनय का तो काम इतना है कि शुद्ध पर्याय का द्रव्य के साथ अभेद दिखा दे, उसकी अन्य दृष्टि नहीं है। तो इस दृष्टि में चूंकि उपाधि निमित्त आदिक का विकल्प न रखा। तो इस नियंत्रण में भी वह अवकाश पाकर इस विकल्प से हटकर स्वभावदर्शन का पात्र होता है। और व्यवहारनय से जो निमित्तनैमित्तिक भाव का वर्णन करता है वहां स्वभाव के दर्शन हम कैसे पाते ? जीव के रागद्वेषादिक विभाव ये कर्म का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए जिसे समयसार में कहा है--पुग्गलकम्मणिप्पण्णा, यह मेरा स्वभाव नहीं, उनसे हटना है और यों निवृत्ति में निमित्त-नैमित्तिक भाव के परिचय द्वारा होने वाली जो विभाव से निवृत्ति है वहां यह स्वभाव का स्पर्श पाता है, तो यह तो और भी सुगम उपाय है। अशुद्ध निश्चयनय और अभेदविधि से पर्याय के ही प्रतिपादक शुद्ध निश्चयनय के उपाय से भी अधिक सुगम उपाय बन जाता है कि जहां यह जाना कि ये औपाधिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं है, उनसे हटना बन जाता है, और हटें तो लगें कहां ? उस स्वरसतः स्वभाव की दृष्टि करें।

जीवविकार के प्रसंग में होने वाले द्विविध निमित्तों के परिचय से स्वभाव के दर्शन की शिक्षा—अब यहां एक बात समझनी है कि जीव जब विहार करता है, रागद्वेष यहां पैदा होते हैं बुद्धिपूर्वक तो वहां एक तो निमित्त है कर्मोदय, दूसरा बनाया गया निमित्त होता है यह समागम तो विषयभूत पदार्थों में, इन इन्द्रिय के विषयों में रस गंध आदिक इन पौद्गलिक विषयों में यह चित्त डालता है, उपयोग जोड़ता है, यों इसका विकार व्यक्त होता है। तो कर्मविपाक के अतिरिक्त जितने भी निमित्त कहे जाते हैं वे सब उपचरित निमित्त हैं। उनपर उपयोग जोड़ें तो उनपर निमित्त का उपचार होता है। उनका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है मेरे विकार के साथ, इसी कारण उसे नोकर्म कहो, उपचरित निमित्त कहो, एक ही बात है। तो इस उपचरित निमित्त के परिचय से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम इनमें उपयोग जोड़ें तो विकार होता है, उपयोग न जोड़ें तो विकार न होगा। यह अबुद्धिपूर्वक विकार है, तो कर्तव्य यह है कि हम इसमें उपयोग न जोड़ें, इनका परिहार करें, दिल से हटायें, यह ही तो चरणानुयोग कह रहा है। तो उपचरित निमित्त के परिचय से हमको यह शिक्षा मिलती है और वास्तविक निमित्त याने अन्वयव्यतिरेकी निमित्त जो कर्मविपाक है उसके परिचय से हमें यह शिक्षा मिली कि देखो विकार का प्रोडक्सन (उत्पादन) होता किस प्रकार है ? पहले बंधे हुए कर्म में जब भी बांधे थे हजार वर्ष पहले भी, उसी समय प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग चार बंध निर्णीत हो गए थे। इसमें तो कोई शक नहीं। अब उनका जब उदयकाल आता है तो कर्म का उदय याने कर्म का परिणमन कर्म में, अनुभाग का खिलना यह होता है कर्म में, सो यद्यपि कर्म का अनुभाग भी एक क्षोभ है, झंझट है, विस्फोट है, विडम्बना है, लेकिन कर्म तो अचेतन है, वह उसका अनुभव नहीं करता। कर्म का तो अनुभाग खिला और जिस प्रकार की प्रकृति है, क्रोधप्रकृति का उदय हुआ तो क्रोध का अनुभाग खिला। उस क्रोध का बुरा रूप है, भयंकर, यह है कर्म में, लेकिन उसका प्रतिफलन, प्रतिबिम्ब उसकी छाया, माया क्योंकि यह उपयोग के साथ ही तो है, एक क्षेत्रावगाही है। तो यहां प्रतिफलन हुआ, इतनी तो है वास्तविक निमित्त की इस उपादान में होने वाले कार्य की बात। अब यह हो गया अव्यक्तविकार। इसे टाली जाने की भी बात नहीं है। उससे छुटकारा पाने का उपाय तो इसमें है कि बुद्धिपूर्वक विकार न होने दें। उससे सत्ता में पड़े हुए कर्मों में संवर निर्जरा होती है, वह भी चलेगी। पर यहां उस विकार की बात देखकर जो अव्यक्त विकार है, जो कर्मविपाक का निमित्त पाकर हुआ है वहां यह बुद्धि स्पष्ट बनती है कि आत्मा के स्वरूप में नहीं है यह विकार। यह विकार तो कर्म के उपादान में है मूल में तो और उसका प्रतिफलन हुआ, सो यह आत्मा, ज्ञान तिरस्कृत हो गया। इसके ज्ञान

का तिरस्कार हुआ, उससे ज्ञान अधीर होकर यह जीव इन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों में उपयोग जोड़ता है, व्यक्त विकार बनता है। तो जहां यह समझा कि यह नैमित्तिक है, औपाधिक है, पुद्गलकर्म निष्पन्न है, मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो सहज ज्ञानज्योतिमात्र है। तो देखो यहां भी स्वभाव के दर्शन का प्रयोजन सिद्ध होता है। सो एक लक्ष्य बनावें कि जितना भी ज्ञान होता है उसका प्रयोजन है स्वभाव का दर्शन कराना। चाहे चरणानुयोग की बात हो, चाहे दर्शनशास्त्र हो, जहां जहां ज्ञान दिलाया गया है उसकी पद्धति यह बनावें कि मुझको स्वभाव के दर्शन की यह विधि बनाना है। तो इस प्रकार के ज्ञानों से स्वभाव के दर्शन की विधि बनायें और अन्तर में अपने इस सहज शुद्ध परमात्मत्व के दर्शन करें।

सकल संसारसंकटनाशक अन्तस्तत्त्वदर्शन की कृपा पा लेने का संदेश—देखो संसार में इस ही निज सहज परमात्मतत्व के दर्शन बिना अब तक रुलते चले आये। अब पाया है बहुत अच्छा मौका। मानव जीवन मिला, सत्संग मिला। तो ऐसा उपाय बनावें कि ये संसार के जन्ममरण के झंझट सदा के लिए छूटें। इन झंझटों से छुटकारा पाने के लिए मूल एक ही बात करना है—मैं ज्ञानमात्र हूं, सहजज्ञानस्वरूप हूं। इस प्रकार अपने आपके बारे में निर्णय रखना है। उसके बाद सब कुछ गैल मिलेगी। पर मूल बात यह रखनी है कि मैं सहज ज्ञानस्वभाव मात्र हूं—इसमें कसर न रहे, इसमें त्रुटि न रहनी चाहिए। यह पूर्ण निर्णय रहना चाहिए कि मैं सहज ज्ञानस्वभाव मात्र हूं। क्या हूं? जो अपने आपके अस्तित्व के कारण किसी परके सम्पर्क बिना स्वयं जो कुछ हूं वह मैं हूं, इसी को कहते हैं भूतार्थ। तो ऐसी दृष्टि बनाकर चलिए और अन्तर्नाथ के दर्शन करिये। मुझे निजनाथ के दर्शन की दया ही चाहिए। क्यों न दया करेंगे ये प्रभु? क्यों नहीं दया करते प्रभो? अरे तुम्हारे वंश की बान तो है। केवल ज्ञान ही ज्ञान करते रहना यह ही तो एक काम किया जाना है और उसमें कोई तकलीफ भी नहीं। परिश्रम से हटकर विश्राम में आने की ही तो बात है। जब शरीर थक जाता है काम करते-करते तो शरीर को ढीलाकर पड़ जाते हैं लोग। अब आराम करना है, बहुत थक गए। तो जब यह जीव विकल्प कर करके थक जाता है, विकल्पों में थकान नहीं आती क्या? दिल बेचैन हो जाता है। बड़ा कष्ट होता है। तो जब विकल्प कर करके थक गया यह जीव तो एक बार यह क्यों नहीं कहता कि मैं अपने को ढीलाढाला छोड़कर याने विकल्प का कड़ापन रखकर मैं तो सहज स्थित रहूं। आराम करें अपने आपके स्वरूप में तो परिश्रम से हटकर विश्राम में ही आना है। मिलेगा अलौकिक आनन्द।

स्वरूप परिचय बिना अज्ञानियों के मिथ्या विकल्पों का उद्भव—अहो स्वरूप विश्राम किए बिना ही तो मिथ्या विकल्प चल रहा है। जो वस्तुस्वरूप के विपरीत है वह मिथ्या विकल्प है। मैं परवस्तु में कुछ भी परिणमन कर सकता नहीं और तत्सम्बन्धी विकल्प जगे तो मिथ्याविकल्प। पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप न माने और उल्टा माने वह मिथ्या विकल्प। देखो स्वयं यह आत्मपदार्थ अखण्ड अवक्तव्य, अभेदरूप सत्, बस इतना ही इसके बारे में समझें, लेकिन इतने से काम तो नहीं चलता। तो आचार्य संतों ने भेद द्वारा समझाया कि देखिये जो जाने सो आत्मा। जो देखे, सो आत्मा याने इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, आनन्दगुण है, और उनका परिणमन भी कुछ अलग-अलग भेद करके समझाया गया, क्योंकि उन परिणमनों से ही तो गुण का स्वरूप, गुण की बात समझ में आती। तो एक अभेद आत्मवस्तु के समझाने के लिए अतद्भाव का माध्यम लेकर द्रव्य, गुण, पर्याय का प्रतिपादन किया। यह होता है अभूतार्थनय से, लेकिन वस्तुस्वरूप के अनुरूप है इसलिए यह सत्य है। अब यहां यह मुख्यता रखना है कि मैं अभेद हूं, एक ही सत् हूं मैं। उसमें भेद कराकर समझाया है द्रव्य, गुण, पर्याय, लेकिन यह स्वतंत्र सत् नहीं है कि द्रव्य अलग स्वतंत्र सत् है, गुण स्वतंत्र सत् है। यह तो एक वैशेषिक दर्शन का प्रतिपादन है कि द्रव्य अलग पदार्थ, गुण अलग पदार्थ, पर्याय अलग पदार्थ, और उनके यहां इसके अतिरिक्त

सामान्य और विशेष अलग पदार्थ हैं। इस तरह की भिन्नता करें तो हम अपने अभेदस्वरूप को नहीं ग्रहण कर सकते। है ही नहीं ऐसा, क्यों हैं नहीं है ऐसा कि जो स्वतंत्र सत् होता है वह गुणपर्यायवान होता, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त होता। गुण यदि स्वतंत्र सत् है तो उस गुण में गुण होना चाहिए, पर्याय होनी चाहिए, लेकिन निर्गुणा गुणा गुण में गुण नहीं हुआ करते। जो गुणवान हैं वह द्रव्य ही होता, सत् ही होता। जब गुण में गुण नहीं है, न साधारण गुण है, न असाधारण गुण है तो गुण स्वतंत्र सत् न रहा। जब गुण में न द्रव्य पर्याय है, गुण गुण ही है, न वह गुणपर्याय है तो वह स्वतंत्र सत् न रहा। उत्पादव्यय भी वहां नहीं और पर्याय से भिन्न प्रदेशी हो, गुणातिरिक्त अन्य सबसे भिन्न प्रदेशी हो तो वे गुण स्वतंत्र सत् कहलायें। अब सुनो यहां बात क्या निरखना था कि मैं एक अभिन्न सत् हूं, केवल परिचय के लिए ही आचार्य संतों ने अतद्भाव बना करके गुणपर्याय को समझाया है। वैसे तो मैं एक ही सत् हूं। यहां तीन सत् नहीं होते। तो हम उससे स्वभाव का परिचय किस प्रकार पायें। मैं अभिन्न हूं, अभेद हूं, एक हूं, जब ऐसी दृष्टि बनाते हैं तो विकल्प हटकर एक अभेद अनुभव होता है। हमारे सभी ज्ञान स्वभाव के दर्शन के प्रयोजन के लिए हैं।

विभाव के असहयोग का चमत्कार—हम ऐसा ज्ञान बनायें कि जिसमें यह पद्धति बने कि मेरे को तो सहज स्वभाव का दर्शन हो। इससे भिन्न मिथ्या विकल्प करके जहां लेन नहीं, देन नहीं, मतलब भी नहीं, सम्बंध भी नहीं, फिर भी विकल्प करते हैं तो अपने आपको एक अशान्ति में, झंझट में रखकर संसारभ्रमण का ही उपाय बनाते हैं। यह क्यों हो रहा? ये विकल्प क्यों हो रहे? ऐसी प्रक्रिया क्यों, जब मेरे स्वरूप में विकार है ही नहीं, जब मैं स्वयं एक चित्स्वरूप हूं तो यह विकार उठ क्यों गया? क्यों हो रही गड़बड़? उपयोग में तो स्वयं में ऐसी करतूत ही नहीं। तो इसका समाधान निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय से मिलेगा। कर्मविपाक का सन्निधान उसका प्रतिफलन और उसका ऐसा आवेग कि हम अपने को न सम्हाल सकें और उसको अपनाने लगें। बस यह हो गया गड़बड़। तो जिसने यह रहस्य जाना वह इस गड़बड़ से हट जायगा और अपने विशुद्ध स्वभाव के आग्रह में रह जायगा। यह ही है सत्य। सत्य का आग्रह करना और जो हों परभाव, वे अपने नहीं, उससे असहयोग करना, यह ही तो स्वतंत्रता पाने का उपाय है। देश आजाद हुआ तो सत्याग्रह और असहयोग से। आत्मा भी आजाद बनेगा तो सत्याग्रह और असहयोग से। विभावों का असहयोग करें और स्वभाव का आग्रह करें, यह ही तो एक बात चाहिए। तो विभावों का असहयोग बने, उसके लिए यह परिचय कराया है आचार्य संतों ने कि ये विभाव परभाव हैं, ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, ये विदेशी हैं। ऐसा जब जानते हैं तो असहयोग आसानी से हो जाता है, और अपने आपका सत्य एक सहज स्वभाव के परिचय से मिलता है। उसे जानते हैं तो उसका आग्रह बनता है। तो विकल्पों का, विभावों का असहयोग करना। यह जो जीव के विकार जगा वह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त सन्निधान पाकर हुआ है। मेरे स्वरूप की चीज नहीं है। मैं तो सर्व विशुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपमात्र हूं। ऐसा जो बोध करता उसके विकल्प की मुद्रा नहीं होती। यहां यह भेद करें कि मलीनता कर्म में है। जैसे दर्पण के आगे लाल चीज रख दी तो दर्पण में लाल प्रतिबिम्ब हुआ तो वहां लालिमा दो जगह है—दर्पण में और कपड़े में, मगर मौलिकता देखो—कपड़े में जो लाल रङ्ग है वह तो कपड़े में बराबर उपादान में पड़ा हुआ है और उसका सन्निधान पाकर दर्पण में जो लाल रङ्ग है वह दर्पण के स्वभाव में नहीं आया। जैसे समयसार में बताया—तस्मिन्निमित्तं परसंग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्। यह भी एक वस्तुस्वभाव है कि आत्मा में विकार होता तो वहां निमित्त परसंग ही होता, स्वयं नहीं होता। तो अब दर्पण में जो छाया पड़ी उस छाया से अलग हटकर दर्पण के स्वभाव को पहिचानने के लिए यह ही तो बोध करना होता कि यह लालिमा तो लाल कपड़े का सन्निधान पाकर हुई। उसकी छाया है, यह दर्पण का स्वरूप नहीं है। हुआ दर्पण में ही परिणमन। कपड़े की लालिमा तो कपड़े में है, उससे दूर यहां दर्पण में कैसे आ जायगी? अपने प्रदेशों से बाहर

किसी भी द्रव्य का गुण पर्याय नहीं हुआ करता, फिर एक यह नैमित्तिक है। इसको कपड़े के साथ जोड़ दें ज्ञान में, यह दर्पण का स्वरूप नहीं है, ऐसे ही उपयोग में जो क्रोध, मान आदिक प्रकृतियों से क्रोध, मान का रङ्ग आया है, छाया हुई है, प्रतिफलन हुआ है उसे तो निमित्त के साथ जुड़ा दें। यह निमित्त पाकर हुआ है, मेरी चीज नहीं है। जावो वहां, और इसी प्रयोजन से जयसेनाचार्य कहते कि 'शुद्ध निश्चयेन रागादिविभावः पौद्गलिका सन्ति।' अर्थात् रागादिक भाव शुद्ध निश्चयनय से पौद्गलिक हैं। अर्थात् विवक्षित एक देश शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के स्वभाव को अविकार रूप से सुरक्षित रखा गया है, फिर भी किसी ने जबरदस्ती की कि बताओ विभाव किसके? तो इस नयके मूड में विभाव पौद्गलिक निर्णीत किया गया है। तो यह सब कुछ जानकर हमको क्या करना है कि विभावों से असहयोग और स्वभाव का आग्रह करना है। जो इस प्रयोजन को चाहता है उसको कहीं भी विसम्वाद नहीं। प्रत्येक ज्ञान से अपने प्रयोजन का निष्कर्ष निकाल लेता है।

अविकार अन्तर्नाथ के दर्शन होनेपर बिगाड़ की भगदड़—यहां यह परखो कि यह मलीमसता तो कर्म की है, मैं चिन्मात्र हूं। सो हे अन्तर्नाथ, हे चैतन्यस्वभाव! जब तू मेरी दृष्टि में आ गया तो अब मेरा बिगाड़ न होगा। देखो दृष्टि में आनेपर भी जब बिगाड़ होता है तो परमें उपयोग फंसानेपर होता है। वह थोड़ा बिगाड़ है, क्योंकि दृष्टि में आ गया ना अपना अन्तर्नाथ। और जब दृष्टि में ही रहा करे तो बिगाड़ अपना होगा। यह रहेगा प्रकाश चैतन्यमात्र। तो ऐसा जो शुद्ध चित् है, इतना ही यह मैं हूं, ऐसा अंगीकार करें, स्वीकार करें। यह ही हूं मैं शुद्ध चैतन्यमात्र। तो ऐसा जो शुद्ध चित् है, इतना ही यह मैं हूं, ऐसा अंगीकार करें, स्वीकार करें। यह ही हूं मैं शुद्ध चैतन्यमात्र। तो लाख बात की बात एक यह ही है कि अपने आपका अगर यह विश्वास बन गया कि मैं सबसे विविक्त निराला एक ज्ञानस्वभावमात्र हूं और ऐसा ही ज्ञान में बसावे तो उसका कल्याण अवश्य होगा। बस यह ही उपाय बनाना है मनन करके, अनेक उपाय बनाकर कि मैं शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हूं। मेरा इसके अतिरिक्त अन्य कुछ प्रयोजन नहीं है। यों अन्तर्नाथ के दर्शन करते रहो और अपने आपके अलौकिक सहज आनन्द का अनुभव करते रहो।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन एकोनविंश भाग समाप्त ॥

विंशति भाग

आत्मन् ! तू तो ज्ञानस्वरूप है, जानना चलता रहे, यही तो तेरा व्यक्त रूप है। विकल्प की गड़बड़ी कैसे आई ? अहो प्रभो ! तेरी सरलता का, स्वच्छता का दुरुपयोग हो रहा है। पूर्वबद्ध पौद्गलिक कर्म में अनुभाग भरा था, उसके पंख निकलने लगे तो अनुभाग खिल गया, उसका इस भोले चिद्ब्रह्म में प्रतिफलन हुआ, सो स्वच्छता का इतना बिगाड़ तो तत्काल हुआ। मूल मलीमसता कर्म में है, उसके प्रतिफलन की मलीमसता चेतन में है। यहां तक भी खास बिगाड़ इस भोले बाबा का न था, परन्तु तब शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर नोकर्म में उपयोग जोड़कर जो मोह और क्षोभ बनाया गया वह चिन्तनीय बिगाड़ है। नाथ बिगाड़ की पोल समझ में आ गई, सो अब बिगाड़ सहन नहीं हो रहा। नोकर्म का जुड़ाव ! दूर हटो, मैं तो सीधा सादा निजधाम में ही बसूँगा, यह ज्ञानधाम…सहज ज्योतिप्रकाश…ॐ…ॐ ॐ शुद्धं चिदस्मि।

आत्मस्वरूप के परिचयी का गड़बड़ीपर आश्चर्य—अपने आत्मा से बाहर के समस्त पदार्थों को भिन्न असार अशरण जानकर, उनसे उपयोग हटाकर अन्दर में अपने आपके दर्शन करते हुए अपने से बात करें। हे आत्मन् ! तू तो ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप अर्थात् केवल ज्ञान ही ज्ञान जगमग प्रकाश चेतना प्रतिभास। जो भी पदार्थ होता है उसका कोई असाधारण गुण अवश्य होता है। जैसे सामने ये दिख रहे खम्भा भींत वगैरह तो इनमें रूप रस गंध स्पर्श पाये जा रहे हैं। अपने आत्मा में क्या पाया जा रहा है ? तो ज्ञान ज्ञान ही पाया जा रहा है। ज्ञान से जानता है, ज्ञान ही स्वरूप है, तो जब तेरा ज्ञानस्वरूप है तो इसका यह ही तो व्यक्त रूप होना चाहिए कि जानना होता रहे। जब मैं ज्ञानमय हूं तो जानना चलता रहे, जानता रहे, बस जानना ही निरन्तर बना रहे यह ही तो इसका प्रकट रूप हुआ। तो जानना तो एक आनन्द को साथ लिए हुए है। जहां मात्र जानना है वहां किसी प्रकार का कष्ट नहीं, पर यह गड़बड़ी कहां से आ गयी ? मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं। जानना मेरा काम है। तो यहां तो सब बात स्पष्ट है फिर यहां विकल्प की, कष्ट की गड़बड़ी कहां से आ गयी ? तो मालूम होता है प्रभु ! कि यह सब तुम्हारी स्वच्छता का दुरुपयोग है। जैसे दर्पण स्वच्छ है, साफ स्पष्ट है। अब स्वच्छ दर्पण है और स्वच्छता ही उसमें झलकती रहे, स्वच्छता ही चलती रहे, यह ही तो दर्पण का काम है। अब दर्पण में जो रंग आया, प्रतिबिम्ब आया, अक्स आया, फोटो आया, यह गड़बड़ी क्यों आयी ? एक जैसे यह प्रश्न हो सकता है वैसे ही यह भी प्रश्न है। मैं तो प्रतिभासमात्र हूं स्वच्छ हूं, ज्योतिर्मय हूं, मेरा काम है जानना। सो जानना बना रहे, चलता रहे, पर इसमें रागद्वेष विकल्प यह बुरा, यह अच्छा, यह मेरा, यह पराया, ऐसे भीतर में जो ये विकल्प आये सो क्यों आये ? यह तो गड़बड़ी है।

आत्मा में गड़बड़ी न आ सके एतदर्थ पौरुष का कार्यक्रम—कोई जीव हम आप कोई यदि अपने को इतना मानता रहे कि हम ज्ञानस्वरूप हैं और जानना मेरा काम है, इसके आगे मेरी कुछ पोजीशन नहीं, इतनी दृढ़ता के साथ जीवन बितायें तो कल्याण है। यह अलाबला, यह मेरा, यह उनका, ये मेरी पार्टी के अमुक तमुक, यह जितना ख्याल है, यह सब आत्मा के हित में बाधक है और किसी मामले में थोड़ी भी कषाय जगे तो कषाय कषाय को बढ़ाता जाता है। जैसे आग की कणिका भी हो और उसमें हवा का प्रसंग आये तो वह ज्वाला को बढ़ाता रहता है, ऐसे ही कषाय का प्रारम्भ हो तो कषाय बढ़ती रहती है। अपना हित चाहिए हो तो प्रथम ही प्रथम ऐसा उद्यम बनावें कि किसी मामले में हमें कषाय न जगे। एक तो भीतर में कषाय जगे, उससे तो नुक्सान है ही, मगर बाहर में हम कोई रूप बना दें तो उससे फिर पर्याय में इतनी आत्मबुद्धि बनती है कि जीवन में फिर उस ज्वाला से निकलना कठिन होता है। तो अपने को निरखें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। मेरे को कोई पहिचानने वाला नहीं है यहां। मैं तो सबसे निराला गुप्त ही गुप्त एक ज्ञानमय पदार्थ हूं।

आत्मा में गड़बड़ी के कारण का प्रश्न और उसका समाधान—अहो इस ज्ञानस्वभावमय पदार्थ में विकल्प की गड़बड़ी कैसे आयी ? ईमानदारी तो यह कहती है कि मैं ज्ञानमय पदार्थ हूं । सो इसमें ज्ञान का काम होता रहे, जानना चलता रहे, प्रतिभास मात्र रहे, यह है, बस इतना ही प्रतिभास रहे, पर उसमें अनेक जो गड़बड़ियां बनीं, जिससे कि क्रोध, मान, माया, लोभादिक वृद्धिगत होते रहते हैं, यह गड़बड़ी कैसे आयी ? तो बात यह है कि हे प्रभो, हे आत्मन्, हे निज नाथ ! तेरे में है स्वच्छता, सरलता, प्रतिभासस्वरूप सो उसका दुरुपयोग हो रहा है । जैसे दर्पण का स्वच्छता स्वरूप है, सो सामने कोई चीज आयी तो यहां गड़बड़ी आ जाती है । भींत के सामने हाथ किया तो भींत में तो प्रतिबिम्ब नहीं आता क्योंकि भींत में स्वच्छता नहीं, दर्पण में स्वच्छता है । तो स्वच्छता का काम तो इतना ही था कि उसमें स्वच्छ चिन्मात्र जगमग चिलचिलाहट उसके ही ही बनी रहती । यह था दर्पण का एक ईमानदारी का काम, मगर जब सामने कोई वस्तु आ गई तो इसमें रंग खिल गया । इसमें प्रतिबिम्ब पड़ गया । अब यह मलिन बन गया । ऐसे ही आत्मा तो एक साफ स्वच्छ प्रतिभासमात्र है । अब पूर्व समय में जो हमने कर्म बांधे थे, जो कर्मबन्ध किया था उनमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग सब निर्णीत हो गए थे । अब पहले बांधे हुए कर्म का जिसमें कि अनुभाग खिला था, अब उसके उदय का अर्थात् विनाश का समय आ गया, जितनी पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति है तो जब म्याद पूरी हुई तो वह मिटेगा ना कर्म, कर्मरहित बन जायगा । भले ही नया कर्म बंधेगा, पर पहले बंधा हुआ कर्म दूर ही जायगा । तो वहां जो कर्मत्व पड़ा था, अनुभाग पड़ा था, फल देने की शक्ति पड़ी थी तो जब उस कर्म का विनाश होने को हुआ तब उसका अनुभाग खिल गया । सो देखो कर्म में जो कर्म का अनुभाग है सो मूल में तो है कर्म की मलीनता, मगर उपयोग में आ गया सो उपयोग भी मलिन बन गया । जैसे दर्पण के सामने लाल कपड़ा रखा तो लाल रंग तो असल में कपड़े का ही है, मगर सामने आया तो दर्पण में भी लाल रंग प्रतिबिम्बित हो गया, लाल परिणमन बन गया । तो यह जो लाल परिणमन की गड़बड़ी की आयी है सो बात तो यों है कि सामने की चीज का निमित्त पाकर आयी है और यहां की ओर से यह उत्तर है कि दर्पण की स्वच्छता का दुरुपयोग हो रहा है । जैसे कोई पुरुष सरल हो तो उसकी सरलता का दुरुपयोग लोग कर लेते हैं । ऐसे ही यह आत्मा स्वच्छ है तो इसका दुरुपयोग हो गया कि आत्मा में विकल्प की गड़बड़ियां आ गईं ।

आत्मा में आई हुई औपाधिक गड़बड़ियों की प्रतिक्रिया—आत्मा में गड़बड़ी आयी तो आने दो, हम गड़बड़ी को अपनायें नहीं । यह न मानें कि ये विकल्प मेरे स्वरूप हैं । अपने को समझें कि मैं तो प्रतिभासमात्र हूं । देखो अपने स्वरूपपर टिकना एक बहुत बड़ा भारी तपश्चरण है । यह अन्तरंग तप है, ऐसा ज्ञान बने, ऐसी ज्ञान-दृष्टि जमे कि बाहरी परभाव, परका विकल्प न करें और अपने ही सहज ज्ञानस्वरूप को अपनाते रहें । यह ही एक परमार्थ तप है । जितने भी और तप किए जाते हैं उपवास या अन्य अन्य रूप, वे सब इसी प्रयोजन के लिए हैं । कोई प्रयोजन तो जाने नहीं और बाहरी तपश्चरण करे तो जितना मंदकषाय है उतना पुण्यबंध तो हो जायगा, मगर मोक्ष-मार्ग न मिल पायगा । तपश्चरण का प्रयोजन है मैं अपने सहज ज्ञानस्वरूप को 'यह मैं हूं', ऐसा अनुभवता रहूं, जानता रहूं । जो कर्मविपाक का निमित्त पाकर गड़बड़ी आयी उस गड़बड़ी में मैं गड़बड़ न बनूं । यह है एक भीतरी तपश्चरण तो देखो क्या घटना घट रही ? जो पहले कर्म बांधे थे उनका जब उदयकाल आया, कर्म के पंख निकल आये । जैसे कि लोग कहते हैं कि बरषात के दिनों में पहले बरषात में कीड़ों के पंख निकल आते हैं, वे पंख निकलते हैं उनके विनाश के लिए । तो ऐसे ही यह जीव अपनी सत्ता में जैसा है वैसा है, पर इसके साथ कर्म सम्बंध होने से यह जीव भी अशुद्ध बन गया और कर्म समयपर उदय में आते, तो मानो कर्म खिरने को हुए, उनके अनुभाग खिला, पंख निकला, उसके बाद वे कर्म कर्म नहीं रहते, वहां नवीन कर्म बंधते हैं । तो इस भोले चिद्ब्रह्म में मैं आत्मा भोलाभाला हूं । सब आत्मा भोलेभाले हैं । कोई कितना ही कठोर हो, मायाचारी हो, पर उसके आत्मा का स्वरूप

तो भोल ही है। सीधा प्रतिभास करे, जानता रहे, इतना ही इसके स्वभाव की ओर से काम है, पर गड़बड़ तो कर्मों में है। उनमें विचित्र अनुभाग खिला है, तो मूल में गड़बड़ी कर्म में आयी। जैसे मूल में रंग उस कपड़े का है, प्रतिबिम्ब रूप से रंग दर्पण का है, ऐसे ही मूल में वह अनुभाग, वह मलीमसता, वह विषयकषाय वह सब कुछ कर्म में है और उपयोग में तो उस मलीनता का फोटो है, प्रतिबिम्ब है, उसे उपयोग में अपनाया और दुःखी हुआ। तो देखो जिस काल में कर्म आड़े आये सो उपयोग में प्रतिफलन हुआ, प्रतिबिम्ब हुआ, इतना बिगाड़ तो तत्काल होता ही है। इतने बिगाड़ को कोई रोक भी नहीं सकता। पर जो ज्ञानी पुरुष हैं वह इन बाहरी पदार्थों में उपयोग नहीं जोड़ता, सो और उनका व्यक्त विकार नही बनता, उससे उनकी विजय होती है। तो मूल में मलीमसता तो कर्म से है और उसके प्रतिफलन की मलीनता इस चेतन में है।

मोक्षमार्ग के अधिकारी होने के लिये विकार और स्वभाव में भेदविज्ञान की खरतरदृष्टि का सहयोग—देखो कर्मानुभाग की फोटो आयी, कर्म का प्रतिबिम्ब आया, छाया माया बनी, इसमें भी जीव का कुछ बिगाड़ न रहा, किन्तु इसके बाद जब यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव की सुध छोड़कर इन बाहरी विषयों में लगता है, उपयोग जोड़ता है और मोह और क्षोभ बनाता है बस वह है बिगाड़। इसके वास्ते संयम चाहिए, अपने ज्ञान में बड़ा तपश्चरण चाहिए। उपयोग को समझा बुझाकर रखे रहें। हम उफान में मत आयें, विकल्प में मत आयें। बाहर जो कुछ होता है होने दो, उसके हम अधिकारी नहीं। ज्ञान तो वही है। अब हम ज्ञान से रोज पढ़ते तो जायें कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है, अधिकारी नहीं है। दूसरे के किसी परिणमन से मेरा बिगाड़ नहीं, और इस पर हम चलें जरा भी नहीं, एकदम अपनी सुध भूलकर, व्यग्र होकर यथा तथा प्रवृत्ति करें तो कहां हमने श्रद्धा की। श्रद्धा मुक्तिमार्ग तो जिसका जिस प्रकार से होता सो ही होता। कहने सुननेसे, बात बोलने से कहीं मोक्षमार्ग नहीं मिलता। इसके लिए तो गुप्त रहना, कम बोलना, मनन करना, तत्ववार्ता सुनना, सब जीवों में समता रखना, जो मेरा चैतन्यस्वरूप है सो सब जीवों का है, फिर मेरा कौन यहां विरोधी, कौन बैरी ? सब विकल्प हैं, सब मिथ्या चाल है, सब एक समान स्वरूप के हैं। ऐसा सब जीवों में स्वरूप का दर्शन करके समता बनना और अपने आपको अपने में बनाये रहना, यह है सबसे बड़ी भारी शूरता। कितना स्वाधीन काम है, कितना सरल सुगम उपाय है संसारके संकटोंसे छूटने का ? जीवके साथ जितनी उपाधियां लग जाती हैं यह जीव उतना ही विह्वल हो जाता है और यह जान जानकर उपाधि लगाता रहता है। एक है, अकेला है, कोई बाहरी उपाधि नहीं लगी है तो यह बड़ी प्रसन्नता में, शान्ति में रहता है। जहां उपाधि लग गई, जैसे मान लो बालक है, बड़ा हुआ, शादी हो गई तो जानने लगा कि मैं सपत्नीक हूं, घर वाला हूं, ऐसी जो भीतरमें उपाधि लग गई अब देखो उसकी नाना चेष्टायें और तरह की होने लगती हैं ना ? झगड़ा, विसम्वाद दूसरों पर अधिकार समझना—ये सारे ख्यालात बढ़ जाते हैं और उसका कष्ट बढ़ जाता है। बालक हो गया तो जान लिया कि मैं इतने बच्चों का बाप हूं लो उस विकल्प में और भाव बिगड़ने लगे तो कितनी तरह की पर्याय बुद्धियां यह करता है ?

आवश्यक काम आजीविका व अत्यावश्यक काम आत्मोद्धार—यहां इस जीव को दो ही काम पड़े हैं आजीविका और आत्मोद्धार। गृहस्थी में आजीविका बिना भी निभेगा नहीं। कुछ आय तो होना चाहिए। खायगा क्या, खिलायगा क्या, रहेगा किस तरह ? तो गृहस्थ को एक तो आजीविका जरुरी है और उससे जरुरी है आत्मोद्धार। क्योंकि आजीविका का सम्बंध तो इस ही भव के साथ है, पर आत्मोद्धार का सम्बंध तो सदा के लिए है। तो दो ही तो आवश्यक हुए आजीविका और आत्मोद्धार। तो आजीविका के लिए यदि कोई विकल्प करना पड़ता है तो कर लो, करने पड़ रहे हैं, हिसाब किताब लेन देन, मुकदमा अदालत, ये कुछ कुछ आजीविका में जरुरी

हो ही जाते हैं तो जितना समझें, इतना भाव हो करना पड़ रहा है, पड़ो, पर उस विकल्प में भी ज्ञानी राजी नहीं है। एक आत्मोद्धार के काम में अपनी प्रसन्नता बनाये, देखो बहुत अपने हित की बात है यह कि धर्म के मामले में उपाधियां मत लगाओ अपने बारे में कि मैं अमुक दल का हूं, अमुक मंडल का हूं, अमुक पक्ष का हूं। काम करो जो जंचे, जान लो जैसे मिले, स्वभाव का दर्शन मिले वह पौरुष करो, मगर भीतर में यह उपाधि मत लगा लो कि मैं अमुक हूं, यह उपाधि जीवनभर हैरान करेगी। बड़ी कठिनाई से तो यह नरजीवन मिला, अब इसमें हम निर्विकल्प होने का रास्ता न ढूंढ सकें और धर्म का ही नाम लेकर विकल्प बढ़ाते रहें तो हमने अपना क्या उपकार किया? इसलिए दुनिया कहीं जाती है, कुछ करती है, कुछ भी हो, एक अपने आत्मापर अगर करुणा आये तो यह संकल्प बना लो कि मैं तो जीव हूं। यह ही मानकर धर्ममार्ग में चलें कि मैं अन्य कुछ नहीं हूं। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। जानना मेरा काम है, यह ही करने का काम है। बस इस श्रद्धा के साथ चलें और इससे अधिक कोई उपाधि अपने में न आ पाये, इसका बड़ा ध्यान रखना, क्योंकि यह जीव मोही है, और यह जानता है कि मुझको ये सब पहिचानने वाले हैं, सो जहां हमने अपने में उपाधि लगायी, फिर उस उपाधि का मिटना कठिन हो जायगा, क्योंकि ऐसा लोकलिहाज बढ़ेगा कि ये लोग मुझे क्या कहेंगे? अब तक तो मैं यह कहलाता आया, इस पार्टी का कहलाता आया, अब मैं कैसे अलग होऊं? इस कारण से भाई अपने को मैं ज्ञानमात्र हूं, जानना मेरा काम है, बस इस नाते से धर्म के मार्ग में कदम बढ़ायें। कौन किसका साथी है? किसमें मैत्री, किसमें बैर? अरे अपने आपके उद्धार का काम तो बना लें। तो आत्मोद्धारका मुख्य कार्य है, और उसके लिए अपनेको उपाधिरहित बनावें। देखो सिद्धि करना चाहे कि मैं को उपाधि-रहित बनावें। देखो और क्या चाहिए उपाधिरहित जो आत्मा का स्वरूप है वह प्रकट हो जाय। तो उपाधि-रहित आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने तो चलें और उपाधि लगायें अपने में बहुत तो अब बतलावो उपाधिरहित स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे क्या? अपने को ज्ञानमात्र समझें। मुझको जानना मेरे सदा ही रहे, यह ही चलता रहे, बस इतना ही मेरा काम है, इससे आगे मेरा कोई काम नहीं है।

यथार्थ श्रद्धा संसार से पार होने की नियामिका—श्रद्धा सही रहे और कर्मोदयवश हमको कुछ उल्टा भी चलना पड़े तो भी हम पार हो जायेंगे, क्योंकि श्रद्धा हम सही बनाये हुए हैं और उस श्रद्धा के अनुकूल चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। उस श्रद्धा में अपने को दृढ़ बनायें और यही अपने बारे में निर्णय रखें कि मैं तो ज्ञानमात्र एक जीव हूं। मैं किसी का कुछ नहीं, कोई मेरा इष्ट नहीं, अनिष्ट नहीं, बैरी नहीं, मित्र नहीं, पक्ष नहीं, पार्टी नहीं। सब जीव भिन्न हैं। जब गृहस्थी में पड़ गए तो वहां यह बराबर मनन करते रहें कि पुत्र मित्रादिक ये सब जुदे हैं, भिन्न जीव हैं। उनके कर्म उनके साथ हैं, मुझसे सम्बन्ध नहीं। यहां तो यह बात विचारें और धर्ममार्ग के प्रसंग में हम उसके कोई हठ, पक्ष की बात सोचें एक व्यावहारिक पार्टी के नाते तो हम अपने को उल्टा चला रहे, यह समझो। यह ही निर्णय बनावें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, जानना मेरा काम है। हे प्रभो! मुझमें वह स्वच्छता प्रकट हो कि मुझमें जानना जानना ही चले। कोई विकल्प राग विरोध की बात मेरे में न आये, क्योंकि राग विरोध एक ज्वाला है, उसमें गुण भस्म हो जाते हैं। जो थोड़ा बहुत धार्मिक लाभ कर पाते हैं सो राग विरोध की ज्वाला उसको भस्म कर देती है और जैसे अनाथ अनाथ अभी तक चले आये वैसे ही अनाथ रह जायेंगे। इस वास्ते इसमें भूल कभी न करना। अपने को समझना कि मैं ज्ञानमात्र हूं, जानना मेरा काम है। जानता ही रहूं मात्र, यह ही मेरे को चाहिए। भीतर में यह एक दृढ़ भान बनायें। तो अब देखो यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र स्वरूप हूं, इसका काम जानना जानना ही है, फिर विकल्प की गड़बड़ी यहां क्यों आयी कि कर्म का उदय आया, उसकी झलक हुई, उसमें हम स्व-भाव से चिग गए, बाहरी पदार्थों में उपयोग जोड़ बैठे। मोह और क्षोभ बन गया, यों बिगाड़ बन गया। वह बिगाड़ मेरे स्वरूप में नहीं है।

हे अन्तर्नाथ ! बिगाड़ की पोल हमारी समझ में आ गई कि यह बिगाड़ लावारिस है। जैसे सड़कपर कोई फाल्तूमा बच्चा, जिसकी कोई अधिक पूछ न हो, फिर रहा है तो उसको देखकर तांगे वाले, रिक्शा वाले कहते हैं कि अरे तू फाल्तू है क्या ? अरे वह लड़का तो फाल्तू न होगा, मगर यह बिगाड़ फाल्तू है, क्योंकि यहां मेरे स्वरूप में तो बिगाड़ है नहीं, इसलिए बिगाड़ मेरा नहीं और कर्म चूंकि अचेतन हैं, इनमें बिगाड़ का अनुभव नहीं, इसलिए उपयोग वाला बिगाड़ कर्म की चीज नहीं, तो न इसका रहा न उसका। वस्तुतः तो बिगाड़ अभावरूप नहीं लेकिन ऐसे फाल्तू लावारिस बालक का हम आग्रह करते हैं यह हमारी मूढ़ता है। जैसे कहीं दंगे में फंस जायें और वहां कुछ उपद्रव होते, कोई लाठी मारता, कोई कुछ करता, वहां भी कुछ ऊपर से कड़ा जी करके सहन करें नीचे से निकलने की कोशिश करते हैं, तो ऐसे ही जब यहां कर्म का बिगाड़ चल रहा तो हम उस बिगाड़ को ऊपरी जानकर ये ऊपरी उपद्रव हैं ऐसा जानकर भीतर में नम्र होकर जरा खिसककर अपने आत्मा की साधना में आ तो जायें। बिगाड़ मेरा स्वरूप नहीं, उससे उपयोग हटा दें। जिसने बिगाड़ की पोल समझ ली, बिगाड़ लावारिस है, यह मेरे स्वरूप की चीज नहीं है, यह बात जिसने समझ ली वह पूज्य है, मोक्षमार्ग का पथिक है, अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त होगा। तो जो अपने काम की बात है, आत्मा का भला कर दे उसमें रूचि बढ़ावें, शेष बातों में रूचि न रखनी चाहिए। तो अब बिगाड़ की पोल जाना, अब बिगाड़ सहन नहीं हो रहा। अब तक बिगाड़ की पोल न समझा था। अब तक यह जीव विकल्प को ही अपनाता था। अब जान लिया यथार्थ तो अब यह बिगाड़ सहन नहीं होता। नोकर्म का जुड़ाव अब दूर हो जाये, मुझे बिगाड़ न चाहिए। मैं तो सीधा सादा अपने उस चैतन्यधाम में बसूंगा, इस बिगाड़ में न लगूंगा। मेरा यह ज्ञानधाम, यह आनन्द का घर सहज ज्योतिप्रकाश यह मैं समृद्ध हूं सर्वस्व यह ही मैं हूं, ऐसा ज्ञानी स्वीकार करता है। ॐ यह ही मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूं, बस इस अनुभव में अपने उपयोग को लेकर ज्ञानी भव-भव के बन्धन को तोड़ देता है।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन विंशति भाग समाप्त ॥

एकविंशति भाग

हे आत्मन् ! अपने सुख शान्ति के ख्याल से तू ने जो कुछ बन सका, सब कुछ कर डाला । कर क्या डाला, नाना विध विकल्प कर डाले पर लाभ कुछ न हुआ । अब विवेक कर, देख, तेरा सर्वस्व कृत्य यह है कि अपने को ऐसा अनुभव कर—"मैं सहजज्ञानस्वभावी हूं, प्रतिभासमात्र हूं" ऐसी भीतर दृष्टि बनाओ । ऐसी दृष्टि बननेका चिन्ह यह है कि फिर उस समय किसी परका ध्यान न रहेगा, देहका भी ध्यान न रहेगा, किस जगह बैठा हूं—यह ध्यान न रहेगा, कितने बजे हैं किस समय बैठा हूं इसका ध्यान न रहेगा, दृष्टि में मात्र ज्ञानस्वभाव रहेगा । देखो अन्त: यह अपने ही भीतर सोचने की बात है । यदि यह आकांक्षा है कि मुझे देह के बन्धन से छूटने में लाभ है, जन्म मरण के चक्र से छूटने में लाभ है, तो अपने को ज्ञानस्वभावी अनुभवने में विफलता नहीं रहेगी । मनन कर—मैं ज्ञानस्वभावी हूं—चित्स्वभावमात्र हूं ॐ ॐ···ॐ···शुद्ध चिदस्मि ।

अकर्तृ स्वभाव के परिचय की महिमा—एक लोक नीति है—करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तितं । मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम् । अर्थात् मैं करूंगा, करूंगा, करूंगा, ऐसा चिन्तन तो करता रहा यह जीव, पर यह भूल गया कि मैं मरूंगा, मरूंगा, मरूंगा । याने मैं मरूंगा इनका ख्याल भी न रखा । मैंने किया, मैं करता हूं, मैं करूंगा, एक तो ऐसा ख्याल परवस्तु के बारे में करे तो मिथ्या है और फिर अपने आपके बारे में भी सोचे कोई कि मैंने ज्ञान की वृत्ति को किया, ज्ञानवृत्ति को ही करता हूं, ज्ञानवृत्ति ही कर सकूंगा—ऐसा भी कोई ख्याल लाये तो वह ख्याल भी एक दोष है, वह भी विकल्प है । फर्क यह कि परका कर्तृत्व तो होता ही नहीं, निजज्ञानवृत्ति का कर्तृत्व ज्ञानपरिणमन ही है । फिर भी ख्याल की परिणति एक विकल्प है । इस विकल्प में इसकी नजर निज तत्त्व पर न पहुंच सकी, इसलिए अकर्तृ स्वभाव अविकार निज चित्स्वरूप को देखने में ही आत्महित है । देख लिया, समझ लिया, फिर भी करने की बात मन में आती है तो वह बात ऊपरी विधि से रहती है जैन कि उसमें उसे राग नहीं होता । जैसे लोग कहते हैं निष्काम कर्मयोग जिस काम को कर रहे उस काम में कामना नहीं, इसका फल मुझे मिले या मैं इस काम को करता ही रहूं, ऐसी कोई कामना न रहना यह सब है ज्ञानप्रकाश का प्रसाद । इसके प्रसाद से बहुत शान्ति होती जाती है । निजको निज परको पर जान, यह बात जब आ जाती है तो उसकी शांति को कोई भंग नहीं कर सकता । हां तो पुन: पहले से चलो । यह जीव अपने में करने का विकल्प बराबर मचाये चला जा रहा है और अपनी योग्यता के अनुकूल विकल्प में इसने बहुत कुछ काम कर भी लिया । काम कुछ नहीं किया, एक विकल्प भर किया, क्या-क्या विकल्प नहीं किया इस जीव ने ? किसलिए किया ? अपनी सुख शान्ति के लिए ।

वस्तु की केवलस्वरूप सम्पन्नता—वस्तुस्वरूप ही नहीं कि परसे कुछ मिले । किसी भी वस्तु से दूसरी वस्तु का कुछ गुणपर्याय प्रभाव कुछ भी नहीं मिलता । यह तो उपादान की ही कला है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त को पाकर अपनी परिणति से परिणम जाता है । परवस्तु से किसी अन्य वस्तु में कुछ आये, यह न होगा । एक तो यह बात । इसके निर्णय से बहुत सी अशान्ति दूर हो जाती है । दूसरी बात लोग ऐसी सोचते हैं कि मैं तो दूसरों के लिए बहुत कुछ उपकार करता हूं, लेकिन ये उपकृत लोग सब खुदगर्ज हैं, सब स्वार्थी हैं, ऐसा भी चिन्तन का एक संकट आता है चित्त में कि मैं तो सबके लिए भला करता मगर लोग कृतघ्न हैं, खुदगर्ज हैं, अपने स्वार्थवश स्नेह करते हैं । स्वार्थ पूरा हुआ फिर कोई पूछता नहीं । इस तरह के भी विकल्प सताते हैं । इस सम्बन्ध में भी यह जानें कि हम किसको खुदगर्ज कहें ? कौन है खुदगर्ज ? वास्तव में सभी हैं खुदगर्ज । सब अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं तो वे परिणमन न करेंगे क्या ? किसी समय परिणमन रुकता है क्या ? सभी हैं सदा, अपना परिणाम बनाते हैं,

जो वे अपनी शान्ति के लिए समझते हैं सो वे करते हैं। इसमें दुनियावी खुदगर्जी की क्या बात ? ऐसे दो तत्त्वों को निरखकर अपने आपमें धीरता लाना चाहिए। सभी अपनी-अपनी शान्ति के लिए प्रयत्न किया करते हैं। उसी रीति के अनुसार मैंने भी अब तक बहुत कुछ कर डाला भव भवमें, वहां भी वास्तव में किया कुछ नहीं। विकल्प ही विकल्प मचा डाला, पर लाभ कुछ नहीं हुआ। एक ही जीवन में देख लो। अब से २० वर्ष पहले, ४० वर्ष पहले जो जो आपके समागम में थे दादा, मां, पिता या अन्य और और कुछ। क्या क्या उनके प्रति विकल्प किया ? कैसा कैसा उनके प्रति लगाव लगाया ? आज वे नहीं हैं, उनका वियोग है तो कुछ बुद्धि ठिकाने आकर समझा देते हैं कि वे सब व्यर्थ विकल्प किये गये, इतना भी अगर लगाव नहीं करते तो कुछ बिगड़ता था क्या ? वहां पर भी किया कुछ नहीं, केवल मिथ्या कल्पना ही किया, विकल्प ही किया। तो अब तक मिथ्या विकल्प ही किया, जिससे आत्मा को हित की बात कुछ नहीं मिली। अब विवेक कर देखो, सर्वस्व करने योग्य काम यह है कि अपने को ऐसा अनुभव करें कि मैं सहज ज्ञानस्वभावी हूं। मैं क्या हूं ? सब दारमदार इस निर्णय पर ही निर्भर है कि मैं क्या हूं ? इसका एक निर्णय बनायें। कोई पुरुष जब यह सोचता है कि मैं इसका बाप हूं, तो इस श्रद्धा में उसके विकल्प उठते—बच्चों की रक्षा करना, खुद जैसा चाहे खाना, बच्चों को अच्छा खिलाना, खुद तो जैसे चाहे कपड़े पहनें, पर बच्चों को अच्छे अच्छे कपड़े पहिनाना आदिक क्या क्या चेष्टायें नहीं करता ? जैसा यह अपने को मानता है उसके अनुरूप इसकी चेष्टा बनती है। अब जरा यह भी समझलो कि कोई बालिका तो निर्द्वन्द्व निश्चित जैसा चाहे फिरे, दौड़े और एक ही रात्रि में जबसे मानो भांवर पड़ गई, विवाह हो गया तो सुबह उसे कौन कला सिखाने जाता कि तुम धीरे चलो, सिमटकर चलो, मुख ढाक कर चलो, हाथों को चिपका कर चलो......। कुछ तो सुन रखा था। अब उसने यह समझ लिया कि मैं स्त्री हूं। वह वैसी चेष्टा करने लगती है। हर एक में घटा लो—जो जिस प्रकार का अपने में भाव बनाता है कि मैं यह हूं, वह उसके अनुरूप चेष्टा करता है। अब यदि यह जीव अपने को यह मान ले कि मैं केवल ज्ञानस्वभावी हूं, चैतन्य प्रतिभास हूं, अन्य कुछ नहीं हूं जो कि यथार्थ है और अपने काम की बात है। यदि किसी ने यह निर्णय बना लिया कि मैं ज्ञानस्वभावमात्र हूं तो उसकी चेष्टा ज्ञातादृष्टा रहने की होगी। सब कुछ निर्भर है इस निर्णय पर कि मैं क्या हूं ? दुःखी होते हैं तो उसका भी आधार यह है कि पर्याय में मान रखा कि यह मैं हूं। आनन्दमय होता है तो उसका आधार यह है कि अपना जो सहजस्वभाव है उसमें अनुभव करें कि मैं सहज ज्ञानस्वभावी हूं, प्रतिभासमात्र हूं, ऐसी अन्दर में दृष्टि बनावें। मैं सहजज्ञानस्वभावी हूं ऐसा मैंने अनुभव किया, इसकी क्या पहिचान है ? प्रयास तो करें, ज्ञान द्वारा ही तो निरखना है, खुद के स्वरूप को ही तो देखना है, किसी की आधीनता तो नहीं है।

ज्ञानानुभव और ज्ञानानुभव के चिन्ह—जरा अन्तर्दृष्टि करके अपने इस सहज स्वरूप को देखें, अनुभव बनेगा उस समय का चिन्ह क्या है ? मोटा चिन्ह देखिये आन्तरिक चिन्ह है अलौकिक आनन्द। उसे ही यह पहिचान बाद में बनती है कि मैंने सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव किया और उस समय क्या स्थिति होती है, वहां उसे किसी भी परतत्त्व का ध्यान नहीं रहता। यद्यपि देह में भी विद्यमान है, एक क्षेत्रावगाह है, मगर उपयोग को यदि ज्ञान में लगाया जाय तो देह का जरा भी भान नहीं है। देह है क्या, यह भी भान नहीं रहता। देह अस्तित्व में है, लगा है, यह भी कुछ बात उसके उपयोग में नहीं रहती, और इतना ही क्या, उसे तो यह सुध नहीं है कि मैं किस जगह बैठा हूं। जब उपयोग अपने श्रोत में अवगाहित होता है उस समय यह कहां ख्याल रहता कि मैं कहां बैठा हूं ? ख्याल करना भी न चाहिए। ख्याल है भी नहीं। जरा भी भान नहीं कि मैं वहां बैठा हूं ? मंदिर है कि घर है, कहां हैं, क्या है, या जगह है या आकाश है क्या है ? कुछ भी उसके ध्यान में नहीं रहता, क्योंकि उसने अपने ज्ञान में अपने सहज ज्ञानस्वभाव का ही ग्रहण किया है, और इतना ही क्या ? यह भी भान नहीं कि क्या समय है, कितने बजे हैं,

क्या टाइम है ? आप इन चिन्हों से वह समझ जायेंगे कि जब भी जाप दे रहे हैं या ध्यान कर रहे हैं और आपको अगर थोड़ा बहुत भाव है कि मैं मन्दिर में हूं, सुबह का समय है, इतने बज गए हैं तो आपने निर्विकल्प तत्व को नहीं समझा । वह उपयोग में नहीं आया । उपयोग में उपयोग का श्रोत आये तो ऐसा एकत्व होता है कि वहां काल का ध्यान नहीं, क्षेत्र का ध्यान नहीं, देह का ध्यान नहीं, किसी परतत्त्व का ध्यान नहीं । कुछ बात यह सुनी जा रही है, कुछ अपने ध्यान में भी लगाया जा रहा है, कुछ आनन्द जग रहा है, और यह बात यदि प्रयोग में आये तो उस आनन्दका क्या ठिकाना ? जैसे एक जगह बैठकर दो चार लोग गप्पें करते हैं, खाने पीने के सम्बन्ध की बातें करते हैं, कल यह वस्तु खाई थी बड़ी स्वादिष्ट थी आज हमने अमुक चीज खाया, कुछ मौजसा लेते हैं तो वहां कोई कहता है कि अजी यह तो गप्प का मौज है, गप्प की बात है, लेकिन यहां तथ्य की बात है, आत्मा का स्वरूप क्या, स्वभाव क्या, गुण क्या ? कैसे यह ज्ञान में आये, कैसे यह ज्ञानानुभूति बने, तब इस चर्चा में एक शान्ति प्राप्त होती, एक उमंग जगती है, एक विशुद्ध परिणाम बनता है । तो जब यह परिणति होगी या परिणति हुई उस समय के आनन्द को समझ लें कि वही एक सर्वस्व अपना कृत्य है । यह काम अपने को अकेले करना है, अकेले में करना है, अर्थात् खुद में गुप्त होकर ही करना है और गुप्त ही विधान है, गुप्त ही कार्य है और करने वाला भी गुप्त है । जिसे लोग कहते हैं, देखते हैं वह मैं नहीं, जिसको कि सत्य ज्योति पानी है, मैं हूं एक चैतन्यप्रतिभासमात्र ।

कैवल्यस्वरूप के परिचय के लिये दार्शनिकों का प्रयास—सभी दार्शनिकों ने इस ब्रह्मस्वरूप को पाने के लिए ही प्रयास किया और इसी कारण जब किसी एक दार्शनिक की कोई बात सुनते हैं तो ऐसा लगता कि ठीक ही तो कह रहे, सच ही तो कह रहे, लेकिन वस्तुस्वरूप का साधन करने वाले स्याद्वाद को जब कसते हैं तब वहां थोड़ी त्रुटि लगती है, और त्रुटि को सम्हालकर फिर चलते हैं तो पथ पा लेते हैं । कहीं मानो बहुत से साधु बैठे हैं और एक प्रमुख साधु प्रवचन कर रहा, कर रहा एक स्वानुभव के विषय का । लोग सुनते हैं और सुनकर ऐसी जगह उपयोग पहुंचता है कि जहां किसी को यह लगता कि वह तो शून्य चीज है । जहां दृष्टि दिलाई जा रही है वह तो शून्य तत्त्व है । हां बात सही है और सही होकर भी गलत है । चूंकि उपयोग एक ऐसी परिणति में आया कि उसे न परक्षेत्र का ध्यान रहा, न कालका, न देहका, न वक्त का, न स्वयं इस श्रोता का, तो वह तो शून्य लगाकर शून्य का एकांत कर ले तब तो कुछ बढ़ न पायगा, तो ऐसे ही किसी संत ने चर्चा की होगी तो कोई बोला कि शून्य ही नहीं, किन्तु आगे बढ़ें, वह है प्रतिभासाद्वैत । केवल प्रतिभासमात्र और कुछ दुनिया में है ही नहीं । न ये दिखने वाले, न भौतिक, न कुछ । तो आखिर यह मंतव्य यथार्थ तो नहीं है कि इस प्रतिभास के सिवाय और कुछ नहीं है । निजके प्रतिभास की मुद्रा क्या ? तो कहा कि इतना ही मत समझो, किन्तु प्रतिभास का आधार जो ब्रह्म है किसी मे तो है प्रतिभास ? वह है ब्रह्म । ब्रह्माद्वैत ने तो कहा है सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेहभानास्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन । तो किसी ने कहा कि इतनी ही बात न समझें, किन्तु प्रकृति और पुरुष ये दो तो मानने ही पड़ेंगे—चेतन और अचेतन । अच्छा प्रकृति पुरुष माना तो वहां बात इतनी आयी कि कोई ढंग से समझे कि भाई अलग-अलग जीव, अलग-अलग अजीव है यह सब कहा जा रहा है तो एक विशेषवाद दर्शन है । वह कहता है कि इतना ही नहीं, किन्तु किसी भी द्रव्य को लो, वह वहां एक चीज नहीं है, द्रव्य अलग है, गुण अलग है, कर्म अलग है । कर्म को पर्याय बोलते हैं, सामान्य अलग है, विशेष अलग है । जैसे कि लोग गणेश की मूर्ति बनाते तो वहां दो बातें नजर आयीं । एक तोड़ में सूंड ऐसी फिट हो गई कि पता नहीं पड़ रहा कि यह अलग से लगाया है, और दूसरा—चूहा का वाहन है उसका तो यह गणेशमूर्ति कभी क्या थी ? एक स्याद्वाद की मूर्ति थी । अलंकार होता होगा । पीछे वह देवता मानी जाने लगी । याने धड़ में जैसे सूंड ऐसा फिट है कि एकत्व ही अभेद है ऐसे ही अभेद को बताने वाला द्रव्यार्थिकनय होता है, और जैसे चूहा किसी कागज या कपड़े का कुतरन ऐसा बारीक कर देता है कि जिसे

कोई कैंची से काटकर नहीं बता सकता, ऐसे ही भेददृष्टि से वस्तु को निरखते हैं तो वहां भिन्न-भिन्न बात समझ में आती है, लेकिन जो पुरुष द्रव्य, गुण, पर्याय को स्वतंत्र सत् भिन्न-भिन्न मानने की मुद्रा हो जाय वह अपने अभेद चित्स्वरूप को नहीं पा सकता। जैसे कि वैशेषिक उस अभेद को नहीं पा सकते, और कोई ऐसा अभेद कर बैठे कि जगत में जो कुछ है वह सब एक है सत्ब्रह्म, चिद्ब्रह्म, तो भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले चेतन अचेतन दोनों को इकट्ठा कर एक माने वह भी स्वभाव को नहीं पा सकता। ज्ञान की गली एक ऐसी संकीर्ण गली है कि जहां थोड़ा भी चूके तो उस पथ से हटकर नीचे गिर जाते हैं, इसके लिए सारा जीवन लगाना होगा और भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन करना होगा। तो क्या प्रयोजन है समस्त प्रवृत्तियों का ? यह मैं सहज ज्ञानस्वभावी अपने आपके अनुभव में आऊं, यदि एक यह ही उद्देश्य है तो इस उद्देश्य को सफल किया जा सकता है। तो इस उद्देश्य को रखने वाले मनुष्य को बड़ा निष्पक्ष, निष्कपट, एक अकषायभाव का ही आदर रखने वाला होना चाहिए। वह अपने इस अविकार स्वभाव के अनुभव करने में सफल हो सकता है। जब इसे यह अविकार ज्ञानस्वभाव अनुभव में आता है उस समय तो यह कुछ ध्यान नहीं लाता। जैसे कोई मिष्ट भोजन का लोभी है, जिस समय हलुवा या कुछ चीज को खा रहा बड़ी आसक्ति-पूर्वक उस समय उसे यह ध्यान नहीं रहता कि इसमें क्या चीज पड़ी है, कितनी पड़ी है ? अगर इस ख्याल में लगा तो उस तरह का मौज न पायगा। तो यहां एक वैषयिक सुखों में यह पद्धति इष्ट होती है तो अलौकिक तत्त्व की तो अलौकिक ही बात है। अनुभव के बाद ही प्रतिपादन होता है, अनुभव में प्रतिपादन नहीं होता।

मुक्ति का पथ ज्ञानानुभव—निज ज्ञानतत्त्वका अनुभव कर चुका हुआ यह ज्ञानी प्रसन्न होता है—अहा कैसा आनन्दधाम नजर आया ? कैसा एक सामान्य शुद्ध साधारण प्रतिभास प्रतिभास में था ? बस यही स्थिति मेरी रहे, यही वास्तविक धर्मपालन है। सोचते हैं ऐसा पर कर क्यों नहीं लेते ऐसा ही ? बाधायें आती हैं, कर्मोदय है, वासनायें सताती हैं। तो जब ऐसी बुरी स्थिति में हम हैं तो उसका आक्रमण बचाने का सीधा उपाय शुभोपयोग है। जीवन में शुभोपयोग में रहो, व्यवहार धर्म में रहो, लेकिन भीतर में प्रयास करें केवल एक सहज स्वभाव मेरी दृष्टि में रहे, क्योंकि पाप में व्यसन में अगर प्रवृत्ति चली जायगी तो हम इस सहज स्वभाव की दृष्टि के अपात्र हो जायेंगे, इन पाप व्यसनों से बचें। पाप व्यसन से बचने का ही नाम है व्रत, संयम, तप। शरीर तो शरीर है। इसे आराम से रखेंगे तो भी यह छूटेगा, बुढ़ापा आयगा, और यदि तप, व्रत, संयम में लगाकर चलेंगे तो कुछ लाभ भी पावेंगे। कितना ही कुछ हो, और उस घटना के हम पात्र हों, अपने भीतर सुरक्षित रहकर अपने इस सहज ज्ञान-स्वभाव की आराधना करते रह सकें। तो वहां दृष्टि जाय। यह ही हूं मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप शक्ति से, स्वभाव से, निरपेक्ष भाव में, बस ऐसा जो अपने आपको अनुभवता है, निर्णय में देता है वह मुक्ति का पथिक है और देह के, कर्म के बन्धन को तोड़कर सदा के लिए संसार के संकटों से मुक्त हो जाता है।

॥ सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन एकविंशति भाग समाप्त ॥

द्विविंशति भाग

प्रिय आत्मन् ! यह सारा जगत मायाजाल है, ये सब समागम में आये हुए मनुष्य भी अन्य प्राणियों की भांति तुमसे अत्यंत निराले और खुद में वे अपने कर्म से प्रेरित होकर संसार में भ्रमण करने वाले हैं। तुम किसको दिल में बसाते सका पक्ष लेते, किस बात की चिन्ता करते, सब बेकार बातें हैं। तुम तो अपने आपके स्वरूप की ओर रहो। यही आत्मस्वरूप ज्ञानमात्र, सहजानन्दघन अन्तस्तत्त्व ही तेरा सर्वस्व है। अन्तर्दृष्टि कर—मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान में सहजस्वरूप के प्रतिभासन के क्षण जो आनन्दमय स्थिति होती है वही मेरी समृद्धि है। अन्तर्नाथ ! अब तो मुक्ति का ही प्रोग्राम बनाओ। इस प्रोग्राम के अनुसार देह से, कर्म से, कलङ्क से सदा के लिये छुटकारा पाना है। जब इन परतत्त्वों से सदा के लिये छुटकारा होना ही है तो इसके खिलाफ यहां कुछ भी मत करो, किसी भी जीव को अनिष्ट मत समझो। जो होता है सो होओ, तुम खेदखिन्न न होओ। संसार बुरा है, संसार में बुरा होता आया है, बुरा होता रहेगा, कुछ होओ, उसका विकल्प मत करो, अपने सहज ज्ञानस्वरूप में अनुभव करो—यह हूं मैं परमार्थ चित् ॐ···ॐ···ॐ शुद्धं चिदस्मि।

मायाजाल से लगाव की अनर्थता—अपना हित चाहने वाले भव्य जन अपने आपसे बोलें क्योंकि यह ही आत्मस्वरूप प्रिय है। प्रिय का अर्थ है सबसे अधिक रुचि जिसमें जाय। हे प्रिय आत्मन् ! तेरा जो इस जगत से इस मायाजाल से जो कुछ लगाव रहता है, उसके विषय में जरा सोच तो सही कि यह मायाजाल जगत क्या है ? यह जगत जो दिख रहा है वह कोई यथार्थ रूप नहीं है। दिखने में क्या आ रहा ? यह स्कंध। ये हैं अनेक परमाणुवों के पिण्ड। ये घटते हैं, बढ़ते हैं, बिछुड़ते हैं, नाना दशाओं को प्राप्त होते हैं। ये स्थिर चीज नहीं हैं। तो यह सब दिखने वाला सर्व माया जाल है और जो कोई इस मायाजाल में है और मायाजाल की बात सोचता है यह मेरा अमुक है, अमुक है। जिस ढंग से सोचा जा रहा है वह भी मायाजाल है। जैसे इन दृश्यमान पदार्थों में से एक-एक परमाणु तो एक स्वतंत्र द्रव्य है, सत् है, परमार्थ है, यथार्थ है, वस्तु है, और यह जो बन करके बना हुआ पिण्ड है यह यथार्थ नहीं। ऐसे ही इस जीव में जो सहज निरपेक्ष चैतन्यस्वरूप है वह तो यथार्थ है और जो कुछ विषयकषाय इच्छा जो कुछ भी चलती है वह यथार्थ नहीं है। यह सारा जगत मायाजाल है। ये समागम में आये हुए मनुष्य जिनका किसी न किसी रूप में ख्याल किया करते हैं किसी को अच्छा मानकर, किसी को बुरा मानकर, किसी को मित्र, किसी को विरोधी मानकर जो ख्याल बना रहता है यह सारा का सारा मनुष्यवर्ग यह अन्य प्राणियों की भांति ही हमसे अत्यन्त जुदा है। जैसे कीड़ा मकोड़ों को लोग अपना तो नहीं कुछ समझते कि जिस मनुष्य को देखकर चित्त में बात उठती है कि यह आ गया, अच्छा आ गया, मेरा है। किसी कीड़े पतंगे को देखकर कभी यह उमंग आती है क्या कि अच्छा है, मेरा है ? उसके प्रति ख्याल ही नहीं जाता। तो जैसे ये कीड़ा पतंगा न्यारे हैं उतने ही पूरे न्यारे घरके, कुटुम्ब के मित्रजन जिन्हें मानते वे सब भी उतने ही न्यारे हैं। रंच भी तो मुझसे लगे हुए नहीं हैं और फिर ये मनुष्य जिनमें छटनी कर ली जाती है कि ये मेरे पक्ष के हैं, ये मेरे विरोधी हैं। वे मनुष्य क्या हैं ? खुद अपने कर्मप्रेरित हैं और संसार में परिभ्रमण करने वाले हैं। भटकते-भटकते कुछ मनुष्यों का समुदाय एक जगह आकर मिल गया, थे वे मनुष्य। हमने अपनी कषाय के अनुकूल उनमें छांट कर डाली। वे सब कर्मप्रेरित हैं, संसार में रुलने वाले हैं, उनको क्यों अपनाते ? उनमें क्यों एक मैत्री दोस्ती की बुद्धि रखते ऐसी कि जिससे और दूसरे विरुद्ध जंचने लगें। यह सब मायाजाल है।

मायाजाल को दिल में न बसाकर अमाय अन्तस्तत्त्व से उपयोग को भरपूर करने में लाभ—हम किसको दिल में बसाते ? कौन तेरे दिल में बसने लायक है ? कोई निर्मल आत्मा हो, वीतराग हो, गुरु हो वह

तो कुछ चित्त में बसाया जावे, उससे तो चित्त में निर्मलता बढ़ेगी मगर जो कुछ मनुष्य दिख रहे हैं इन मनुष्यों को क्यों अपने दिल में बसाया जा रहा है ? क्यों किसी का पक्ष लिया जा रहा मित्र मानकर या कुटुम्बी मानकर ? अरे किसकी तुम चिन्ता करते ? कौनसी घटना, कौनसे मनुष्य तुम्हारे लिए प्रिय हैं या अप्रिय ? सब बाहरी हैं, भिन्न हैं, उनसे तुम्हारा क्या होना है ? क्यों मोहमद किया है ऐसा कि इन बाहरी पदार्थों में आशा, ममता जगे ? ये सब बेकार बातें हैं । बाहर में जो कुछ करने की सोचने की बनती है वह सब बेकार बात है । तुम अपने आपके स्वरूप की ओर आवो: ज्ञानप्रकाश पाकर अपने आपका सम्बोधन करो । हम किसी को न सम्बोध सकते, न किसी का कुछ कर सकते, न दूसरा कोई हमारा कुछ कर सकता । अपने आपको सम्बोध लो, अपने ज्ञान को अपने ज्ञानप्रकाश में रखो तो सब भला होगा । बाहर में कोई भले का हेतुभूत नहीं है । यह ही आत्मस्वरूप, यह मैं ज्ञानमात्र जो अपने आपके प्रदेश में है । सहज आनन्दघन हूं ऐसा यह मैं अन्तस्तत्त्व यह ही मैं अपना सर्वस्व हूं । देख अन्तर्दष्टि कर—मैं ज्ञानमात्र हूं । अपने ज्ञान में अपना सहज ज्ञानस्वरूप प्रतिभास में आये—उस समय जो आनन्दमय स्थिति होती है वही मेरी समृद्धि है, वही मेरा सर्वस्व सार है, एक ही काम चाहिए । मेरे ज्ञान में इस ज्ञान का स्वरूप रहा करे । जिस ज्ञान में यहां वहां के अनेक पदार्थ आते ना समझ में, वे न आवें ज्ञान में और ज्ञान में इस ही ज्ञान का स्वरूप आया करे, यह ही रहा करे, यह ही है सबसे बड़ी अमीरी । बाहर की चीजें तो सब छूटनी ही हैं । जब देह छूट गया तो सब छूट गया । बाहर की बातों से अपनेमें अमीरी का जरा भी ख्याल न करें । वे सब बेकार हैं जीर्ण तृण की तरह । जैसे एक जीर्ण सड़े गले तृण से हमारा कुछ नहीं बनता ऐसे ही इन समस्त बाहरी पदार्थों से इस आनन्दघन ज्ञान-स्वरूप आत्मा का कुछ नहीं बनता है । व्यर्थ का मोह अज्ञान बढ़-बढ़ कर कलंकों का लदान हो जाता है जिससे इस जीव को संसार में रुलना पड़ता है । जैसे जलसे भिन्न कमल है ऐसे ही इन पौद्गलिक ठाठों के बीच रहकर भी, इस देह के मध्य रह कर भी सबसे भिन्न यह ज्ञानपुञ्ज आत्मा है ऐसा अपने आपका ध्यान बनावें । अन्तर्दष्टि करें मैं ज्ञानमात्र हूं, इस ज्ञान में सहज ज्ञानस्वरूप का प्रतिभास हो । उस समय जो आनन्द की स्थिति होती है बस वही मेरी सम्पत्ति है, वही मेरा सर्वस्व है ।

मुक्ति के प्रोग्राम में ही भलाई—हे अन्तर्नाथ, हे निज आत्मन् । अब तो मुक्ति का प्रोग्राम बनाओ । यहां संसार में हमको नहीं रहना क्योंकि यहां जन्म मरण के क्लेश हैं, यहां नाना विकल्प के क्लेश हैं । मुझे इस संसरण में नहीं रहना है । जब इस संसरण में नहीं रहना है यह हमारा निर्णय हो चुका तो संसार के इस मायाजाल की चीजों में हमारी उमंग, हमारी दष्टि, हमारा लगाव भी कैसे हो ? अगर कुछ लगाव भी है, कुछ लगते भी हैं, परिस्थिति है ऐसी तो धर्मबुद्धि रखकर भी उनसे अपने को भिन्न मानकर भी चूंकि हमारी अभी सराग स्थिति है, राग होता है तो राग का प्रयोग करें ज्ञान की साधना में ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है और राग उठे तो ज्ञान की साधना में राग उठे । कभी यह राग भी हटेगा और विकाररहित विराग निज ज्ञानस्वरूप में हम मग्न हो सकेंगे, इस माया जाल से हटेंगे और इस वैभव में आयेंगे । यह बात कब बनेगी ? जब भीतर के मायाजाल से हटाव बनेगा । भीतर का मायाजाल है कषाय । इन कषायों से जब लगाव हटेगा तो सभी से हटाव बन लेगा । कषाय से हटाव बनेगा तब, जब यह समझ में आ गया कि कषाय परभाव हैं, नैमित्तिक हैं । मूल में तो कर्म का परिणमन है और उसका प्रतिफलन है मात्र, उसे अपनाता हूं, क्यों अपनाऊं ? ये तो औपाधिक हैं । इन कषायों से निवृत्ति बनायें और अपने आपके स्वभाव में रुचि करें, मुक्ति का प्रोग्राम बनावें । इस प्रोग्राम के अनुसार क्या होगा ? देह से छुटकारा, कर्म से छुटकारा, कलंक से छुटकारा, सदा के लिए छुटकारा हो जायगा, तब इन समस्त परतत्त्वों से हमारा छुटकारा होगा ही । हम कभी अकेले केवल रहेंगे तो फिर यहां ही क्यों लगाव ? वहां से ही क्यों न प्रारम्भ करो कि जल्दी छुटकारा मिले ? उस छुटकारे के खिलाफ यहां कुछ बात मत करें । किसी जीव को अनिष्ट मत समझें, किसी को

विरोधी मत समझे। अगर धर्ममार्ग में चलते हुए धर्मविधि ही ऐसी बना ली जाय कि यह तो अज्ञानी, यह मिथ्यादृष्टि, यह ढोंगी, यह विरोधी, यह नासमझ और ऐसा सोचकर हमने क्या भला कर लिया अपने में ? तो यह बात होनी चाहिए कि सर्वेषु मैत्री, सर्व जीवों मे मैत्रीभाव हो, सर्व चैतन्यस्वरूप हैं। और उस दृष्टि से सब एक समान हैं। मैत्री समान में ही तो हुआ करती। जो अपने से छोटा हो उसमें मित्रता नही। जो अपने से बड़ा हो उसमें भी मित्रता नहीं होती। मित्रता तो समान में हुआ करती। तो सभी जीव समान हैं, सबका चैतन्य स्वरूप है। तो उसमें उस समान तत्त्व को देखें और मैत्री बनाये। ये सब सद्विचार सब कुछ अपनी दया के लिए ही किया जाता है।

अन्तर्बाह्य समतावृत्ति से स्वरक्षा—भैया ! अपने आपके कल्याण की इच्छा हुई है तो उसके अनुरूप चलें। एक सावधानी और बनानी होगी कि अपने को बाहर में किसी पक्ष का हूं ऐसा जाहिर मत करें, राग है अपने में, उस राग की कमजोरी से चाहे किसी पक्ष में हमारा चित्त जाता हो। यदि उसे हमने बाहर में स्पष्ट कर दिया तो ऐसी कषाय जागृत रहेगी कि हम उसका आग्रह नहीं छोड़ सकते। चाहे भीतर में पक्ष हो, पर बाहरी परिस्थिति में पक्ष न बनावें। वहां कम से कम इतनी गुंजाइश तो रहेगी कि हम पक्षपात तजकर अपने वास्तविक आत्महित में लग सकेंगे। अब बड़ी कठिनाई से तो मनुष्यजन्म पाया, श्रेष्ठ मन पाया और यहां किसी पर में आग्रह बना लें तो यह जीवन बेकार चला जायगा। कमजोरी होती है, मनुष्य हैं, पर अपना बाहरी रूपक मुद्रा ऐसी बनायें कि हम जब चाहे कल्याण के पात्र रह सकें, क्योंकि बहुत कठिन बात होती है, जब एक बार कोई पुरुष व्यक्त रूप से अपने को यह जाहिर कर देता है कि मैं तो अमुक पक्ष का हूं। तो फिर वह चाहे कि हमको झंझट लग गया, हमको आकुलता होने लगी, हम आत्मा के अनुभव में नहीं आ सक रहे, हमको तो अब आर्ष मार्ग ही रुचता है, हमें तो वहां ही रमना है, दया भी आयी हो अपने आपपर तो एक बार यह बड़ी कठिनाई होती है कि यह मैं अब कैसे आग्रह से छूटूं ? इससे भाई अपने आपपर यह बहुत बड़ी दया होगी जो अपने से बाहर में कुछ भी ऐसा जाहिर न करें कि मैं अमुक पक्ष का हूं। चाहे रहे पक्ष भीतर में। उसे भीतर गुप्त रखें, अवकाश मिलेगा कि उसमें ही अगर सहीपना है तो वह मार्ग अपना लें और यदि कुछ हमें और बात, दूसरी निष्पक्षता की बात समझ में आये तो उसे अपना तो सकते हैं। सब कुछ बात अपने आप पर दया करने की कही जा रही है। कोई अगर कल्याण कर लेता है तो किसी दूसरेपर ऐहसान की बात नहीं है। हमने अगर कोई लाभ पाया, व्रत किया, संयम किया, ज्ञान पाया तो यह कुछ अपनेपर ऐहसान लादने की बात नहीं है कि आपको आभार मानने वाला होना चाहिये, ऐसा समझें और आपपर हम अपने को हुकूमत वाला समझें। यह धर्म, यह ज्ञान, यह ऐहसान के लिए नहीं किन्तु खुद की भलाई के लिए है, आत्महित के लिए है।

गुप्त ही गुप्त में गुप्त को गुप्त विकसित करने का संदेश—अपने को तो बड़ा गुप्त रखना है। कभी कभी गुरुजी (बड़े वर्णी जी महाराज), एक आपसी शब्दों में कह देते थे कि जिसको जगत में निर्द्वन्द्व रहना है उसे उल्लू बनकर रहना चाहिए। थे उनके एक आपसी के शब्द, पर उसका भाव यह था कि जगत के प्रपंचों में, मायाजाल में लोक में ऐसी चतुराई बनाकर न रहना चाहिए कि जिससे कोई आग्रह बन जाय। भाव उसका यह है। यह है अपनी एक रक्षा का उपाय। हां तो जब हमने मुक्ति का प्रोग्राम बनाया उस प्रोग्राम में क्या होना कि इन सबको छोड़कर केवल अकेला लोक के अग्र भाग में सिद्धालय में यह आत्मा रहेगा और वहां अकेला ज्ञान ज्योतिर्मय, आनन्दमय, विकल्परहित अलौकिक अपने तेज में रहेगा। तो ऐसा काम जब हमें करना है, यह हमें स्थिति चाहिए है तो हम उसके खिलाफ यहां कुछ करें तो नहीं, जितना बन सके उसके अनुकूल तो कर लें, पर खिलाफ कुछ बात न करें। खिलाफ बात क्या है ? किसी जीव को अपना अनिष्ट समझना, विरोधी समझना, किसी जीव से अपने को घृणा बनाना, ये सब खिलाफ बातें हैं। किसके खिलाफ ? मेरे प्रोग्राम के खिलाफ ? मेरा प्रोग्राम है मुक्ति में पहुंचने

का, और यहां हम व्यर्थ का टाराबटोगी करें। जैसे कि कोई बनिया का लड़का एक तागा वगैरह जोड़जाड़कर दीपक वगैरह से तराजू बना ले और ढेला पत्थर वगैरह धरकर तौलता फिरे तो यह उसका एक बेहूदा, बेकार का काम है। ऐसे ही यह सब बाहर की कोई भी घटना सोच विचार आग्रह आदि बेकार के काम हैं, यह मनुष्यजीवन बहुत दुर्लभ जीवन है। इसमें आत्मसेवा करने का, आत्महित का काम बनावें, और इसकी पात्रता तब रहेगी जब ऊपर निष्पक्ष रहें, भीतर कोई बात जगेगी तो उसे हम अपने ज्ञान से भीतर निपटा लेंगे। अगर बाहर में निष्पक्षता नहीं रहती तो ऐसा आग्रह बनेगा कि उत्तरोत्तर विकार में ही उपयोग पहुंचता चला जायगा। तो मुक्ति के प्रोग्राम के खिलाफ अपनी कोई यहां कार्यवाही न बनावें। सर्व जीवों में चैतन्यस्वरूप दिखे, मैत्रीभाव लावें। बाहर में जो होता है होने दो, बुरा भी होता है तो उसके पीछे अपना संक्लेश मत बनावें। तुम किसी के अधिकारी नहीं हो। सहज अपना कल्याण करते हुए सही बात दूसरों को भी बता दे। अगर कुछ प्रतिकूल हो तो बाहर बुरा होता है तो जो होता है हो, वहां खेदखिन्न मत हो। यहां मानो १०-५० लोग कुछ खोटे पथ के चल रहे या कुछ धर्मविरुद्ध बन रहे हों उसका हम बुरा मानते और जगत में जो अनन्त जीव हैं वे सारे के सारे कुमार्ग में लगे हैं, उसके सामने कितनी संख्या है, जिसको चित्त में बसाकर तुम अपना कल्याण खो रहे हो।

अपनी सम्हाल में सर्वत्र सम्हाल—भैया! अपनी सम्हाल करें, केवल अपनी सम्हाल करें। तुम अपनी सम्हाल करोगे तो दूसरे का जिसका सुयोग होगा वहां भी सम्हाल हो जायगी। और जो खुद की सम्हाल से गिर गये तो लाख उपाय बनायें, न खुद सम्हले, न दूसरे। इसलिए एक यह ही निर्णय रखें— मुझ आत्मा को अपनी सम्हाल करना है। बुरे को देखकर भी मन में आकुलता मत लावो। यह है एक यथार्थ तपश्चरण। संसार बुरा है, बुरा होता आया है, और यहां तो बुरा ही होता रहेगा। नहीं तो संसार टिकेगा कैसे? अगर संसार में सब अच्छा ही अच्छा हो तो यह संसार रह सकता क्या? संसार तो बुराई के आधारपर ही टिका हुआ है। जिस दिन यहां से बुराई खतम हो जायगी उस दिन संसार विलीन हो जायगा। संसार कभी विलीन होगा क्या? न होगा, इसकी पहिचान क्या? इसकी पहिचान यह है कि यह संसार अब तक बना हुआ है। अनन्तकाल तो व्यतीत हो गया। यह संसार बुराई के आधारपर टिका है। तो यहां जो कुछ बुरा हो वह संसार का स्वरूप है। बुरा होता रहे कुछ भी हो, उसका विकल्प मत करो। होती है अपनी दया, अपनी दृष्टि में केवल अपना आत्मा है। कल्याण कर लो। अटकी क्या है किसी पर में आशा लगाने की कि जिसमें हमें कोई आग्रह बन जाय। अटकी है अपने आपके निर्मल परिणमन की, शुद्ध परिणाम हो, अपनी भलाई करें, मुझे कुछ नहीं तकना। सारा जगत भी निन्दा करे तो उससे मेरा बिगाड़ न होवेगा। सारा जगत भी प्रशंसा करे तो उससे मेरा सूतभर भी सुधार नहीं होने का। मेरा सुधार मेरे ज्ञान में यह ज्ञानदेवता विराजमान रहे, यह स्वरूप और प्रभु अरहंत सिद्ध सकल परमात्मा उनका वीतराग निर्मल ज्ञानस्वरूप मेरे चित्त में रहे, मेरा स्वरूप चित्त में रहे, इस बात से मेरा सुधार होगा। मेरे सुधार का दूसरा उपाय नहीं है। बाहर में कुछ होता हो, हो, उसका विकल्प मत करो। अपने सहज ज्ञानस्वरूप में अनुभव करें कि मैं यह हूं।

निज सहजभाव में आत्मतत्त्व के निर्णयपर मुक्तिमार्ग की आधारितता—देखो लाख बात की बात एक यह है कि अपना जो सहज निरपेक्ष स्वरूप है, स्वभाव है उसमें यह अनुभव बने कि मैं तो यह हूं। हमारा

दृष्टि सही बन जाय वही तो सम्यक्त्व है। उसी से ही तो आगे क़दम बनता है। इस ही में तो हमको गुप्त होना है। मेरा आनन्दघर यह ही है, बाहर नहीं है। उसकी सर्वस्व निधि यह ही है, बाहर नहीं। अपनी निधि में तृप्त हों, अपने घर में निवास करें, और अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हुए भव-भव के कलंकों से, पातकों से, कर्म-बन्धनों से छुटकारा पा लें। बाहर में कोई प्रोग्राम न बनावें कि मैं इसका भला करूंगा। इसके भले के लिए ही मैं हुआ हूं, ये ऐसा क्यों नहीं मानते? ये इस तरह क्यों जानें? बात ये उल्टी सोचते? कौन उल्टा सोचता, कौन सीधा सोचता, कौन हमारा है? ये सब ख्याल दूर करें और अपने आपका भला हो उस ज्ञानप्रकाश में आवो। खुद भले होवेंगे तो दूसरों का भी भला हो जायगा आपके सत्संग से। खुद भला न हो तो आपके सत्संग से, आपके सम्पर्क से दूसरों का भी भला नहीं। तो एक ही धुन बनावें कि मुझको खुद को संतोष, खुद का भला कर दें। जितने भी अब तक सिद्ध भगवन्त हुए हैं वे इस ही एक कैवल्य के प्रोग्राम से हुए। अपने में निहारो सहज ज्ञानस्वरूप यह मैं यह ही हूं, मैं शुद्ध चैतन्य हूं। ॐ ॐ, यह हूं मैं शुद्ध चैतन्य, यह ही हूं मैं, यह निर्णय है तो आपका मार्ग सही है और संसार से छुटकारा अवश्य ही पा लेंगे।

।। सहजानन्द पौरुष विहार प्रवचन द्विविंशति भाग समाप्त ।।

जमना प्रिंटिंग प्रेस, ५२६ न्यू भगवंत पुरा, मेरठ